

KAVYADIPIKA

A

MANUAL OF SANSKRIT RHETRIC

INTENDED FOR, AND SUITED TO THE CAPACITY
OF, THE UNIVERSITY STUDENTS

WITH

काव्यदीपिका

A SHORT ACCOUNT, IN ENGLISH,
OF THE, RISE PROGRESS AND DECLINE OF SANSKRIT POETRY.

BY

KANTI CHANDRA VIDYARATNA.

EDITED WITH A FULL COMMENTARY

BY

PANDIT JIBANANDA VIDYASAGARA, B. A.

Superintendent Free Sanskrit College, Calcutta.



CALCUTTA :

PRINTED AT THE SARASWATI PRESS.

1886.

To be had from Pandit Jibananda Vidyasagara, B. A.
Superintendent Free Sanskrit College, Calcutta

एतानि मुद्रितसंस्कृतपुस्तकानि ।

| | | | |
|----------------------------------|-----|------------------------------------|----|
| १ व्याशुबोधव्याकरणम् | २ | ३० सर्वदर्शनसंग्रहः | १ |
| २ धातुरूपादर्शः | १॥ | ३१ भासिनीविलास सटीक | ॥ |
| ३ शब्दस्तोमसहानिधिः | ८ | ३२ हितोपदेश सटीक | ॥ |
| ४ सिद्धान्तकौमुदी सरलासहिता १० | | ३३ भाषापरिच्छेदसंज्ञावलीसहित ॥ | |
| ५ सिद्धान्तविन्दुसारः (वेदान्त) | ॥ | ३४ बद्धविवाहवाद | १० |
| ६ ललाटानादिपद्धतिः (वङ्गाक्षरैः) | ४ | ३५ दशकुमारचरित सटीक | १ |
| ७ गयाश्राद्धादिपद्धतिः | १ | ३६ परिभाषेन्दुशेखर | ॥० |
| ८ शब्दार्थरत्नम् | ॥ | ३७ कविकल्पद्रुम धातुपाठः | १ |
| ९ वाक्यमञ्जरी (वङ्गाक्षरैः) | १० | ३८ चक्रदत्त (वैद्यक) | १॥ |
| १० छन्दोमञ्जरी तथा उत्तरत्वाकर | | ३९ उणादिसूत्र सटीक | २ |
| सटीक | ॥० | ४० मेदिनीकोष | १ |
| ११ वेणीसंहार नाटक सटीक | ॥० | ४१ पञ्चतन्त्रम् | ॥ |
| १२ सुहृदराक्षस नाटक सटीक | ॥ | ४२ विद्वन्मोदतरङ्गिणी (चम्पूकाव्य) | ॥ |
| १३ रत्नावली नाटिका सटीक | ॥ | ४३ साधवचम्पू | १० |
| १४ मालविकाग्निमित्र सटीक | १ | ४४ तर्कसंग्रह | ॥ |
| १५ धनञ्जय विजय सटीक | १० | ४५ प्रसन्नराघव नाटक | १ |
| १६ महावीरचरितनाटक | ॥० | ४६ विवेकचूडामणि | १॥ |
| १७ साङ्ख्यतत्त्वकौमुदी सटीक | २ | ४७ काव्यसंग्रह (संपूर्ण) | ५ |
| १८ वैयाकरणभूषणसार | ॥ | ४८ लिङ्गानुशासन सटीक | १ |
| १९ लीलावती | ॥ | ४९ ऋतुसंहार सटीक | १॥ |
| २० बीजगणित | ॥ | ५० विक्रमोर्वशी (सटीक) | १ |
| २१ शिशुपालवध सटीक (माघ) | २ | ५१ वसन्ततिलक भाग | १॥ |
| २२ किरातार्जुनीय सटीक | १॥ | ५२ गायत्रीव्याख्या | ॥० |
| २३ कुमारसम्भव पूर्वखण्ड सटीक | ॥ | ५३ साङ्ख्यदर्शन (भाष्यसहित) | २ |
| २४ कुमारसम्भव उत्तरखण्ड | ॥ | ५४ भोजप्रबन्ध | ॥ |
| २५ अष्टकम् पाणिनीयम् | ॥० | ५५ नलोदय सटीक | १॥ |
| २६ वाचस्पत्यम् (वृहद्भिधान) | १०० | ५६ देश केन कठ प्रश्न सुख | ५ |
| २७ कादम्बरी सटीक | १॥ | माण्डूक्य (सटीक सभाष्य) | ५ |
| २८ राजप्रशस्ति | ॥ | ५७ छान्दोग्य सटीक सभाष्य | ५ |
| २९ अनुमानचिन्तामणि तथा | | ५८ तैत्तिरीय ऐतरेय श्वेताश्वतर | |
| अनुमानदीधिति | ४ | (उपनिषद्) सभाष्य सटीक | २ |

काव्यदौपिका ।

विश्वविद्यालयच्छात्राणां पाठोपयोगी

सुगमः सुद्रकायः

अलङ्कारसन्दर्भः ।

कान्तिचन्द्रविद्यारत्नभट्टाचार्येण

सङ्कलितः ।

वि, ए, उपाधिधारिणा

श्रीजीवानन्दविद्यासागरभट्टाचार्येण

विरचितया व्याख्यया सञ्ज्ञासितः ।

इंग्लिषभाषया लिखितेन संस्कृतसाहित्यशास्त्रस्य

संक्षिप्ते नेतिवृत्तेन समेतः ।

कलिकातानगर्यां

सरस्वतीयन्त्रे

मुद्रितः ।

इ. १८८६ ।

প্রকাশক—শ্রীজীবানন্দবিদ্যাসাগর বি, এ,
২ নং রমানাথ মজুমদারে ষ্ট্রিট ।

প্রিণ্টর—শ্রীক্ষেত্রমোহন মুখোপাধ্যায়
৫৬ নং আমহষ্ট্র ষ্ট্রিট, কলিকাতা ।

Copyright of the Kavyadipika is purchased from the heir
of the late author by Pandit jibananda vidyasagara, B. A.
Copyright Registered by the Publisher.

सूचौपलम् ।

| | पृ० | प० | | पृ० | प० |
|-----------------------|-----|----|----------------------------|-----|----|
| प्रथमशिखा ... | १ | | लक्षणासूत्रा व्यञ्जना | १४ | २ |
| काव्यप्रयोजनम् | १ | ३ | आर्थीव्यञ्जना ... | १४ | ११ |
| काव्यलक्षणम् ... | २ | १० | तृतीयशिखा ... | १६ | |
| द्वितीयशिखा ... | ४ | | काव्यभेदाः ... | १६ | २ |
| वाक्यस्वरूपम् ... | ४ | ७ | ध्वनिः ... | १६ | ४ |
| प्रदस्वरूपम् ... | ५ | ४ | ध्वनेर्भेदौ ... | १६ | ८ |
| शब्दविभागः ... | ५ | ८ | लक्षणासूत्रः (विविचिता- | | |
| अर्थविभागः ... | ५ | ६ | वाच्यः) ... | १६ | ११ |
| वाचकस्वरूपम् ... | ६ | १ | अभिधामूलः (विविचितान्य- | | |
| अभिधास्वरूपम्... | ६ | ५ | परवाच्यः) ... | १६ | १२ |
| लक्षणास्वरूपम्... | ७ | ३ | अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यः १७ | | ८ |
| लक्षणाविभागः... | ८ | १४ | अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यः १८ | | १ |
| उपादानलक्षणा | ८ | १ | विविचितान्यपरवाच्यः १८ | | ८ |
| लक्षणलक्षणा ... | ८ | ७ | तद्विभागः ... | १८ | १४ |
| व्यञ्जनास्वरूपम्... | १० | १ | असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यः १९ | | २ |
| व्यञ्जनाविभागः... | १० | ६ | रसनिरूपणम् ... | १९ | ११ |
| शाब्दीव्यञ्जना ... | १० | ७ | रसभेदाः ... | २० | ८ |
| अभिधामूला व्यञ्जना १० | १२ | | स्थायिभावाः ... | २५ | ५ |

| | पृ० | प० | | पृ० | प० |
|--------------------------------|-----|----|-----------------------------|-----|----|
| व्यभिचारिभावाः | २५ | ७ | प्रस्तावनाभेदाः ... | ३६ | ८ |
| संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यः | २७ | ८ | उद्घाटकलक्षणम्... | ३६ | ११ |
| गुणीभूतव्यङ्ग्यम् | २८ | ९ | कथोद्घातलक्षणम् | ४० | ६ |
| चितिकाव्यम् ... | २९ | २ | प्रयोगातिशयलक्षणम् | ४१ | १ |
| चतुर्थशिखा ... | ३१ | | प्रवृत्तकलक्षणम् ... | ४२ | १ |
| दृश्यव्यभेदेन काव्यविभागः } | ३१ | ३ | अवलगितलक्षणम् | ४३ | १ |
| दृश्याकाव्यलक्षणम् | ३१ | ५ | पताकास्थानकलक्षणम् | ४३ | ६ |
| अभिनयस्वरूपं तद्भेदाच्च | ३१ | १० | अर्थोपक्षेपकाः ... | ४५ | ७ |
| नाटकलक्षणम्... | ३२ | ४ | विव्यक्तकलक्षणम्... | ४५ | १० |
| नायकलक्षणम् | ३२ | ११ | प्रवेशकलक्षणम् ... | ४६ | १ |
| धीरोदात्तलक्षणम् | ३२ | १७ | अद्भुततारलक्षणम् | ४६ | ६ |
| धीरोद्धतलक्षणम् | ३३ | २ | सन्धिलक्षणम् ... | ४६ | १२ |
| धीरललितलक्षणम् | ३३ | ६ | सन्धिभेदाः ... | ४७ | ४ |
| धीरप्रशान्तलक्षणम् | ३४ | ३ | नाट्योक्तयः ... | ४८ | २ |
| प्रकरणलक्षणम् | ३४ | ६ | अव्यकाव्यलक्षणम् तद्भेदाच्च | ५२ | २ |
| प्रहसनलक्षणम् | ३५ | ८ | महाकाव्यलक्षणम् ... | ५२ | ६ |
| नाटिकालक्षणम् | ३५ | ११ | खण्डकाव्यलक्षणम्... | ५३ | ७ |
| अङ्गलक्षणम्... | ३६ | २ | गद्यलक्षणम् ... | ५४ | १ |
| त्रोटकलक्षणम् | ३६ | १२ | चम्पू लक्षणम् ... | ५४ | ३ |
| पूर्वरङ्गलक्षणम् | ३८ | २ | पञ्चमशिखा ... | ५४ | |
| नान्दीलक्षणम् | ३८ | ५ | दोषस्वरूपं तद्भेदाच्च | ५४ | १० |
| प्रस्तावनास्वरूपम् | ३८ | १ | प्रस्तावनागताः दोषाः | ५४ | १६ |

| पृ० | प० | पृ० | प० |
|---------------------------|----|-------------------------|--------|
| पदवाक्यगताः दोषाः ५५ | ११ | क्लेशः ... | ८८ ४ |
| वाक्यमात्रगता दोषाः ६५ | ५ | अर्थालङ्काराः ... | ८९ ६ |
| अर्थदोषाः ... ७१ | ६ | स्वभावोक्तिः ... | ८९ ११ |
| रसदोषाः ... ७८ | ७ | उपमा ... | ९० ८ |
| दोषाणां कचिद्गुणत्वं कचि- | | सालोपमा ... | ९२ १ |
| ददोषत्वञ्च ... ८० | १० | रूपकम् ... | ९२ ७ |
| वष्टशिखा ... ८१ | | उत्प्रेक्षा ... | ९३ ३ |
| गुणस्वरूपम् ... ८१ | १ | अतिशयोक्तिः ... | ९४ १० |
| गुणविभागः ... ८१ | ७ | अन्यरूपा अतिशयोक्तिः ९६ | ४ |
| साधुर्यस्वरूपम् ८१ | ८ | व्यतिरेकः ... | ९८ ३ |
| ओजःस्वरूपम् ... ८२ | ६ | प्रतिवस्तूपमा ... | ९९ ३ |
| प्रसादस्वरूपम् ... ८३ | ७ | निदर्शना ... | १०० ८ |
| सप्तमशिखा ... ८४ | | दृष्टान्तः ... | १०१ ८ |
| रोतिस्वरूपं तद्भेदाच्च ८४ | ११ | अर्थान्तरन्यासः ... | १०२ १ |
| वैदर्भीलक्षणम् ... ८५ | ५ | तुल्ययोगिता ... | १०३ ८ |
| गौडीस्वरूपम् ... ८५ | ६ | दीपकम् ... | १०४ १३ |
| अष्टमशिखा ... ८६ | | अन्यरूपं दीपकम् | १०५ ५ |
| अलङ्कारस्वरूपम् ८६ | २ | सन्देहः ... | १०६ १ |
| अलङ्कारविभागः ८६ | ३ | आलिप्तान् ... | १०७ ४ |
| शब्दालङ्काराः ... ८६ | ३ | अपङ्कृतिः ... | १०८ ४ |
| अनुप्रासः ... ८६ | ५ | समासोक्तिः ... | १०९ ३ |
| यमकम् ... ८७ | १ | अप्रस्तुतप्रशंसा ... | ११० ८ |

| | पृ० | प० | | पृ० | प० |
|------------------|-----|----|-----------------|-----|----|
| व्याजस्तुतिः ... | १११ | ७ | विरोधः ... | ११८ | १ |
| प्रतोपम् ... | ११२ | ६ | विषमम् ... | ११९ | १ |
| अर्थश्लेषः ... | ११४ | ८ | असङ्गतिः ... | १२१ | १ |
| महोक्तिः ... | ११५ | ५ | कारणभावा ... | १२१ | ८ |
| काव्यलिङ्गम् ... | ११६ | १ | सारः ... | १२२ | १ |
| विभावना ... | ११६ | ११ | एकावली ... | १२२ | ५ |
| विशेषोक्तिः ... | ११७ | ३ | अर्थापत्तिः ... | १२३ | ६ |

सूचीपत्रं सम्पूर्णम् ।

काव्यदीपिका ।

प्रथमशिखा ।

मातरं हृदये ध्यात्वा विशदाम्बुजवासिनीम् ।
बालानां सुखबोधाय क्रियते काव्यदीपिका ॥
“काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये * ।
सद्यः परनिर्णेतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे” ॥

मम्मटः । (१)

* काव्यादनर्थनिवारणञ्च भवतीत्याहुः, तथा च मयू-
रभट्टः सूर्यशतकं विरचय्य महारोगान्निर्मुक्त इति प्रवादः ।

प्रणम्य परमात्मानं श्रीजीवानन्दशर्मणा ।

व्याख्यया समलङ्कृत्य तन्यते काव्यदीपिका ॥

(१) काव्यनिति काव्यं कविकृतमलौकिकचमत्कारिवाक्यं यशसे
कीर्तये स्वातिष्ठाभायेत्यर्थः रचयितुः प्रयोक्तुश्चेति शेषः । अर्थकृते
धनाधिगमाय, व्यवहारविदे रानादिवत् प्रवर्तितव्यं न रावणादिव-
दित्यादि शिष्टाचारज्ञानाय, शिवेतरक्षतये शिवात् मङ्गलात् इतर-
मशिवममङ्गलमित्यर्थः तस्य क्षतये नाशाय भगवाक्कामकीर्तनादिनेति
शेषः । सद्यः पाठस्य श्रावणस्य च समनन्तरमेव परा सहती निर्णेतुः
आनन्दः तस्यै तथा कान्तासम्मिततया उपदेशयुजे उपदेशदानाय यथा
कान्ताया उपदेशो मधुरतया स्मरते तथा मधुरभावेनोपदेशदानाय
भवतीति शेषः ।

काव्यं हि पाठादिसमनन्तरमेव अनिर्वचनीय-विल-
क्षणानन्दाय, * कालिदासादीनामिव यशःसम्पत्तये,
श्रीहर्षादेर्धावकादीनामिव धनाधिगमाय, लोकाचारा-
दिपरिज्ञानाय, सुधामयेनोपदेशवचनेन रामादिवत्प्रव-
र्त्तितव्यं न रावणादिवत् इति सत्यप्रवर्त्तनाय साधु-
विगर्हितवर्त्मनिवर्त्तनाय च, तत्तद्भाषासु व्युत्पत्तिलाभाय
च यथायोगं कवेः पाठकानाञ्च भवतीति बहुफलतया
काव्यस्य तल्लक्षणादिकमवश्यमवगन्तव्यं धीमतामिति
प्रथमतः काव्यस्य लक्षणमाह,—

कथ्यते काव्यम् “इष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली” ॥
दण्डी ।

इष्टा अलौकिकचमत्कारित्वेन सहृदयमनोरमा पर्या-
स्तैर्यवच्छिन्ना विलक्षणीकृता पदावली पदसमूहः
काव्यम् । “रिपुस्ते मृतः” “पुत्रस्ते जातः” इत्यादि-
वाक्येन जनितस्य आह्लादस्य न लोकोत्तरत्वमिति (२)
न तत्र काव्यत्वप्रसङ्गः । तथा च लोकोत्तरचमत्कारितया

* इदमेव काव्यस्य प्रधानफलमिति कारिकाक्रमम-
नादृत्य प्रथममुपन्यस्तम् ।

(२) इष्टेति । सहृदयमनोरमा सामाजिकमनःप्रह्लादका इत्यर्थः ।
विलक्षणीकृताः अलङ्कृता इत्यर्थः । लोकोत्तरत्वम् अलौकिकत्वं
लोकेषु स्वतो यः सुखानुभवः, स लौकिकः, यच्च काव्यनाञ्चपरिशीलन-
जनितः स खल्वलौकिकः तादृशलौकिकानन्दजनकपदावली काव्य-
मिति निष्कर्षः ।

सहृदयहृदयाकर्षि वाक्यं काव्यमिति फलितम् । तन्नाम
वाक्यं काव्यं, यत् खलु विलक्षणचमत्कारितया बलादिव
व्यमानोय सामाजिकजनमनांसि रञ्जयति । यथा—

“मानुषीभ्यः कथं नु स्यादस्य रूपस्य सम्भवः ।

न प्रभातरलं ज्योतिरुदेति वसुधातलात्” ॥ (३) अ० श०

“उगिस्तदम्भकबला मर्दं परिचत्तणत्तणा मोरी ।

ओसरिअपाण्डुपत्ता मुञ्चन्ति अस्सुं विअ लदाओ*” ॥ (४)

अ० श०

“अयि कठोर ! यशः किल ते प्रियं

किमयशो ननु घोरमतः परम् ।

*उद्गीर्णदम्भकबला मृगी परित्यक्तनर्तना मयूरी ।

अपस्तपाण्डुपत्ता मुञ्चन्ति अशु इव लताः ॥

(३) मानुषीभ्य इति । मानुषीभ्यः अस्मै एतादृशस्येत्यर्थः रूपस्य
सौन्दर्यस्य कथं नु केन प्रकारेण वा सम्भवः सहृदयः स्यात् नैव स्या-
दित्यर्थः । प्रभातरलं लावण्यपूर्णं ज्योतिः तेजः वसुधातलात्
पृथिव्याः न उदेति नोत्पद्यते ।

(४) उद्गीर्णीति । उद्गीर्णाः परित्यक्ता इत्यर्थः दर्भाः कुशा
एव कवचा आसाः यया तादृशी शकुन्तलायाः प्रतिगृह्यात्माकाशे
तद्विरहदुःखादिति सर्वत्र योज्यम् । परित्यक्ताहारा इत्यर्थः । परि-
त्यक्तं नर्तनं यया सा नृत्यपराङ्मुखीत्यर्थः । अपस्ततानि गलितानि
पाण्डुपत्ताणि यासां तथाविधाः अतएव अशु वाष्पवारि इत्यर्थः
मुञ्चन्ति त्यजन्ति ।

(५) अयीति । रामं प्रति वासन्त्या उक्तिः । अयि कठोर !
हे निष्ठुर इत्यर्थः ते तव यशः प्रजारञ्जनजमिति शेषः प्रियं प्रीति-
करं किल निश्चितम् । ननु देवेति शेषः अतः परम् अस्मादन्यदित्यर्थः

किमभवद्विपिने हरिणीदृशः

कथय नाथ ! कथं वत मन्यसे ॥ (५) उत्त०

एतानि वाक्यानि पाठानन्तरमेव कर्मापि लोकोत्तर-
मानन्दं सहृदयानामातन्वन्तीति (६) तेषां काव्यत्वम् ।

इति काव्यनिरूपणं नाम प्रथमशिखा ।

द्वितीयशिखा ।

वाक्यस्वरूपमाह,—

अन्वितैकार्थबोधे तु वाक्यं पदसमुच्चयः । (१)

त्रोरं दारुणम् अयशः सीतानिर्यासनजनितमिति शेषः किम् नातः
प्रसयशो नास्तीति भावः । विपिने अरण्ये हरिणीदृशः सीतायाः
किमभवत् दृष्टमिति शेषः हे नाथ ! हे प्रभो ! कथय वद, वत खेदे,
कथं मन्यसे किं विवेचयसि ?

(६) व्यातन्वन्ति जनयन्ति ।

इति प्रथमशिखा ।

—००—

(१) अन्वितैकार्थबोधे इति । अन्वितस्य अन्वययुक्तस्य परस्पर-
सम्बद्धस्येत्यर्थः एकस्य अर्थस्य बोधे सति तु पदानां सुप्रतिष्ठान-
रूपाणां समुच्चयः समूहः अनेकसङ्ख्यकपदावलीत्यर्थः तथाचान्तर्गत-
पदार्थसमुद्दिष्टैकार्थबोधकं पदद्वयं वा पदसमुदायो वाक्यमिति फलित-
मिति भावः । तत्र पदद्वयं यथा राजा गच्छति, पदसमुदायस्य मूल
एवोदाहरणं द्रष्टव्यम् ।

पदानां प्रत्येकं साधकत्वेऽपि तेषामर्थो नान्वितः,
वाक्यन्तु तदन्तर्गतपदार्थसमुद्दितमेकमर्थं बोधयति ।
यथा, 'जननी सुताननं सखे हसौचते, ।

“सुप्तिङन्तं पदं” ग्राह पाणिनिमु निसत्तमः ।

सुबन्तः तिङन्तश्च शब्दः पदम् । यथा, 'रामः'
'भवति' इत्यादि

शब्दः पुनस्त्रिविधः, यथाह मम्मट-भट्टः,—

‘स्याद्वाचको लाक्षणिकः शब्दोऽत्र व्यञ्जकस्त्रिधा” ।

(२)

अर्थोऽपि शब्दप्रतिपाद्यस्त्रिविध एव, वाच्यः, लक्ष्यः,
व्यञ्ज्यश्च ।

“वाच्यादयस्तदर्थाः स्युः” मम्मटेन यथोदिताः । (३)

वाचकादीनां क्रमेण स्वरूपमाह,—

(२) स्यादिति । अत्र अलङ्कारग्रन्थे शब्दः त्रिधा, वाचकः वक्ति
अभिधेया अर्थं प्रकाशयतीति वाचकः, लाक्षणिकः लक्षणया अर्थं
प्रकाशयतीति लाक्षणिकः । व्यञ्जकः व्यञ्जनया अर्थं प्रकाशयतीति
व्यञ्जकः ।

(३) वाच्यादय इति । वाच्यादयः वाच्यलक्ष्यव्यङ्ग्या इत्यर्थः
तदर्थाः तेषां वाचकलाक्षणिकव्यञ्जकानाम् अर्थाः, तत्र वाचकस्य शब्द-
स्यार्थः वाच्यः, लाक्षणिकस्य शब्दस्यार्थः लक्ष्यः, व्यञ्जकस्य शब्दस्यार्थः
व्यङ्ग्यः ।

“साक्षात् सङ्केतितं योऽर्थमभिधत्ते स वाचकः” ।

मन्मटः । (४)

साक्षात् सङ्केतितसु ‘अस्मात् शब्दादयमर्थो बोद्धव्य’ इति शब्दस्य स्वाभाविक्या शक्त्या* व्याकरणादिना वा नियन्त्रितः । इयमेव शक्तिः “अभिधा” इत्युच्यते । अनया बोध्योऽर्थः वाच्यः, स च साक्षाद् बोध्यत्वेन प्रधानतया मुख्यार्थ इत्यपि अभिधीयते । यथा गोशब्दोऽभिधया गलकम्बलादिमज्जीवविशेषरूपं, पाचकशब्दश्च पाककट्टी-रूपञ्चाद्यं साक्षात् बोधयति । (५)

* शब्दस्य स्वाभाविकीं शक्तिं सर्वे नाद्रियन्ते, रुढसम्प्रतिरेव शब्दानामर्थवाचने हेतुरिति केचिदाचक्षते, तथा च अभिधापि तन्मते लक्षणाव्यञ्जने इव आरोपितैवेत्यलमिति गहनावगाहनेन ।

(४) साक्षादिति । साक्षात् अव्यवधानेनेत्यर्थः सङ्केतितं स्वतो नियमितम् अर्थं यः शब्दः अभिधत्ते प्रतिपादयति स वाचकः ।

(५) शब्दस्येति । स्वाभाविक्या स्वतःसिद्धयेत्यर्थः शक्त्या सामर्थ्ये-नेत्यर्थः । शक्तिश्च तत्तद्भाषा वादिभिर्नियमितेति बोध्यम् । व्याकरणादिनेति आदिपदेन उपमानादयो गृह्यन्ते तदुक्तम् ।

शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोषाम्नावाक्याद् व्यवहारतश्च ।

साम्प्रिध्यतः सिद्धपदस्य दृष्ट्वा वाक्यस्य शेषाद् विष्टतेर्वदन्तीति ॥

नियन्त्रिता नियमिता निर्धारितेत्यर्थः । तत्र व्याकरणाद् यथा पाचक इत्यादि । उपमानाद् यथा गोसदृशो गवय इत्यादि । कोषाद् यथा विनायके विम्वराजहैमादुर गणाधिपा इत्यादि । आम्नावाक्याद् यथा अयमश्वशब्दवाच्य इत्यादि । व्यवहाराद् यथा दृष्टेन युवानस्रदिश्य गामानयेत्युक्ते तं गवानयनमष्टम्

लक्षणाऽर्थबोधकः शब्दो लाक्षणिकः, तथा बोध्यो-
ऽर्थः लक्ष्यः । लक्षणास्वरूपमाह विश्वनाथः,—

“सुख्यार्थबाधे तद्युक्तो यथाऽन्योऽर्थः प्रतीयते ।
रूढेः प्रयोजनाद्वासौ लक्षणा शक्तिरपिता” ॥ (६)

सुख्यार्थस्य अन्वयानुपपत्तिग्रहे तदर्थसम्बन्धी अन्यो-
ऽर्थः, रूढिप्रयोजनयोरन्यतरस्मिन् हेतौ सम्भवति, यथा

दृष्ट्वा बालोऽस्य वाक्यस्य साक्षादिसत्पिण्डानयनमर्थं प्रथममवधारयति
ततो गां वधान् अश्वमानयेत्युक्ते तथा कुपांश्च युवकमवलोक्य गोशब्दस्य
साक्षादिसत्पिण्डरूपमर्थम् आनयनशब्दस्य चाहरणरूपमर्थञ्च पृथ-
गवधारयतीत्यादि । सिद्धपदसामिध्याद् यथा प्रभिन्नकमलोदरे मधुनि
मधुकरः पिबतीत्यादि । अत्र कमलोदरे मधुपानकर्तृत्वं भ्रमरस्यैवाति
मधुकरशब्दो भ्रमरमेव बोधयतीति द्रष्टव्यम् । वाक्यस्य शेषाद् यथा
यवमयश्चूर्णवतीति वाक्ये यवशब्दः किं वासन्त्यस्यविशेषबाधकः,
उत यावन्निष्प्रसिद्धतदाख्यस्यविशेषबोधक इति संशये तद्वाक्यशेषे
वसन्ते सर्वशब्दानां जायते पत्रशातनम् । सोदमानाश्च तिष्ठन्ति यवाः
कण्ठिशशाखिन इति वाक्यशेषात् वासन्त्ययमेव बाधयतीत्यादि । वि-
ष्टतेर्विवरणाद् यथा रामो दाशरथिरित्यादि ।

(६) सुख्यार्थेति । सुख्यार्थस्य अभिधेयार्थस्य बाधे अन्वयानुप-
पत्तिग्रहे तद् युक्तः सुख्यार्थसम्बन्धवान् अन्योऽर्थः यथा शक्त्या प्रती-
यते ज्ञायते सा शक्तिः अपिता आरोपिता अस्वाभाविकीत्यर्थः लक्ष्यते
अनयेति व्युत्पत्त्या लक्षणा नाम सा च कश्चित् रूढेः प्रसिद्धेः, कश्चित्
प्रयोजनाद्वा भवतीति द्विधा रूढिहेतुका प्रयोजनहेतुकेति चेत्यर्थः ।
इदञ्च हेतुद्वयमन्तरेण यस्य कश्चित् सम्बन्धस्य सदुभावे लक्षणा
नाङ्गीक्रियते इति बोध्यम् ।

प्रतीयते सा वृत्तिर्लक्षणा नाम । रूढिः प्रसिद्धिः, यथा,
 'कलिङ्गः साहसिक' इत्यत्र कलिङ्गशब्दो देशविशेषरूपे
 स्वाभिधेयेऽर्थेऽसम्भवन् तद्देशवासिनः पुरुषान् बोधयति ।
 प्रसिद्धिश्च अत्र हेतुः । 'गङ्गायां घोषः' इत्यत्र च गङ्गाशब्दः
 प्रवाहविशेषरूपं स्वाभिधेयमर्थं बोधयितुमसमर्थः सामी-
 प्यसम्बन्धसम्बन्धिनं तटं बोधयति । हेतुश्चात्र शीतत्व-
 पावनत्वातिशयबोधनरूपं प्रयोजनम् ।

“उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते सुजनता प्रथिता भवता परम् ।
 विदधदौदृश्यमेव सदा सखे ! सुखितमासुखं ततः शरदां
 शतम्” ॥ (७)

इयं हि कश्चिदपकारिणं प्रत्युक्तिरिति मुख्यार्थस्या-
 न्वयानुपपत्तेः वैपरीत्यसम्बन्धेन अपकारादिरूपमर्थं
 ज्ञापयति, अपकाराद्यातिशयव्यातनञ्चात्र प्रयोजनम् ।

इत्येवं सा द्विविधा रूढिमूला प्रयोजनमूला च ।
 सेयं पुनर्द्विधा स्यादुपादानं लक्षणञ्चेति ॥

उपादानलक्षणा लक्षणलक्षणा चेति सा लक्षणा
 पुनर्द्विविधा ।

(७) उपकृतमिति । हे सखे ! बहु उपकृतं त्वयेति शेषः तत्र
 विषये इति शेषः किमुच्यते न किमपीत्यर्थः भवता परं सुजनता
 योजन्यं प्रथिता प्रकटिता, दृष्ट्यमेव कर्मेति शेषः सदैव विदधतु अरु-
 तिष्ठन् ततः विधानादित्यर्थः शरदां वर्षाणां शतम् अत्यन्तसंयोगे
 द्वितीया सुखितम् आसुखं सुखं तिष्ठेत्यर्थः ।

स्वसिद्धये पराक्षेपेऽसावपादानलक्षणा । (८)

वाच्यार्थस्य अन्वयसिद्धयर्थं लक्ष्यार्थस्य बोधने वाच्यार्थस्यापि उपादानादियमुपादानलक्षणा यथा,—“यष्टयः प्रविशन्ति” इत्यत्र यष्टीनां सूतः प्रवेशक्रिययाऽन्वयासम्भवात् प्रवेशान्वयार्थं स्वसंयोगिनः पुरुषा आक्षिप्यन्ते । अत्र च स्वार्थस्यापरित्यागादियम् “अजहत्स्वार्था” इति च कथ्यते ।

परार्थमात्रबोधे तु भवेत्तल्लक्षणलक्षणा । (९)

सर्वथा स्वार्थपरित्यागेनान्यार्थमात्रबोधने इयं लक्षणलक्षणा । अतएवासौ ‘जहत्स्वार्था’ इति च भण्यते । यथा पूर्वोदाहृते, ‘उपकृतं बहु तत्र’ इत्यादौ ।

व्यञ्जनयार्थबोधकः शब्दः व्यञ्जकः, तथा बाध्योऽर्थो व्यङ्ग्यः । व्यञ्जनास्वरूपमाह,—

(८) स्वसिद्धये इति । स्वस्य मुख्यार्थस्य सिद्धये अन्वयबोधार्थे परस्य अपरार्थस्य लक्ष्यार्थस्येत्यर्थः आक्षेपे उपस्थापने बोधने इत्यर्थः सतीत्यर्थः असौ लक्षणा उपदानं पठणं मुख्यार्थस्येति भावः तेन लक्षणा उपादानलक्षणा तथाच मुख्यार्थसमेतलक्ष्यार्थबोधिका लक्षणा उपादानलक्षणेति तात्पर्यम् । अजहत्स्वार्था न जहत् त्वजन् स्वार्थो यामिति अजहत्स्वार्था वाच्यार्थपरित्यागिनीत्यर्थः ।

(९) परार्थेति । परस्य अन्यस्य लक्ष्यस्येत्यर्थः अर्थमात्रस्य मात्रपदेन मुख्यार्थव्यवच्छेदः । बोधे सति तु लक्षणेन येन केनचित् सख्यस्वरूपेण चिह्नेनेत्यर्थः लक्षणा लक्षणलक्षणा । जहत्स्वार्था जहत् त्वजन् स्वार्थो यामिति सर्वथा वाच्यार्थपरित्यागिनीत्यर्थः ।

“विरतास्त्रिभिधाद्यासु * ययार्थो बोध्यतेऽपरः ।
सा वृत्तिर्व्यञ्जना नाम शब्दस्यार्थादिकस्य च” ॥ (१०)

विश्वनाथः ।

अभिधायां लक्षणायाञ्च स्वं स्वमर्थं बोधयित्वा विर-
तायां ययाऽपरोऽर्थो बोध्यते सा वृत्तिर्व्यञ्जना नाम ।
शब्दवदर्थोऽपि अर्थान्तरव्यञ्जक इति प्रथमतो द्विविधा
व्यञ्जना शाब्दो आर्थी च ।

शाब्दो च द्विविधा, अभिधामूला लक्षणामूला च ।
यथाह विश्वनाथः,—

“अभिधालक्षणामूला शब्दस्य व्यञ्जना द्विधा” ।

अभिधामूलामाह विश्वनाथः,—

“अनेकार्थस्य शब्दस्य संयोगाद्यैर्नियन्ति ते ।

एकत्रार्थेऽन्यधौहेतुर्व्यञ्जना साभिधाश्रया” ॥ (११)

* विश्वनाथादयः केचित् तात्पर्याख्यामतिरिक्तां
वृत्तिं कथयन्ति ततएव ‘अभिधाद्यासु’ इति बहुवचनम् ।
वृत्तिमिमामन्ये न मन्यन्ते ।

(१०) विरतास्त्रिति । अभिधाद्यासु अभिधालक्षणातात्-
पर्याख्यासु वृत्तिषु विरतासु स्वं स्वमर्थं बोधयित्वा उपलक्षणासु यया
वृत्त्या अपरोऽर्थः बोध्यते सा शब्दस्य अर्थादिकस्य च वृत्तिः व्यञ्ज्यते
अनयेति व्युत्पत्त्या व्यञ्जना नाम ।

(११) अनेकार्थस्येति । अनेकार्थस्य भिन्नार्थस्य शब्दस्य एकत्र
एकस्मिन् अर्थे संयोगाद्यैः नियन्ति ते निर्धारिते सति अन्यस्य अर्थस्य

संयोगाद्याश्च,—

“संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता ।

अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः ॥

सामर्थ्यमौचित्यौ देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः ।

शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः * ॥ (१२)

यथा,—“सशङ्खचक्रो हरिः” इति शङ्खचक्रसंयोगेन हरिर्विशुः । ‘फणहौनो नागः’ इति फणवियोगेन नागः सर्पः । ‘रामलक्ष्मणौ’ इति लक्ष्मणसाहचर्येण रामो दाशरथिः । ‘रामार्जुनौ’ इत्यत्र विरोधितया रामो भार्गवः, अर्जुनः कर्त्तृवोर्यः । अर्थः प्रयोजनम् यथा—‘स्थाणुं भज भवच्छेदे’ इति भवच्छेदरूपप्रयोजनसम्बन्धेन स्थाणुः शिवः न तु शाखाविहौनो वृक्षः । प्रकरणं प्रस्तावः यथा,—‘यथाज्ञापयति देवः’ इति देवो भवान् राजा वा । लिङ्गं विशेषकं चिह्नं यथा,—‘कपर्दी भीमः’ इति कपर्देन विशेषकेण भीमः शिवः । अन्यस्य प्रसिद्धार्थ-

* अनेकार्थस्य शब्दस्य कस्याथस्य बोधोभवतीत्यनिश्चये संयोगादयोऽर्थविशेषबोधने नियामका इत्यर्थः ।

धीहेतुः प्रतीतिकारणं या व्यञ्जना, सा अभिधा आश्रयो यस्या इति अभिधाश्रया अभिधामूलेत्यर्थः ।

(१२) संयोग इति । संयोगः संसर्गः, विप्रयोगः विरहः, साहचर्यं सङ्गः, विरोधिता वैरम् अन्यद् व्याख्यातम् । एते शब्दार्थस्य अनवच्छेदे अनिर्धारणे विशेषस्मृतिहेतवः विशेषार्थबोधकारणानीत्यर्थः ।

कस्य शब्दस्य सन्निधिः समभिध्याहारः यथा,—‘स्थलार-
विन्दश्चियम्’ इत्यत्र अरविन्दसन्निधानेन श्रौः शोभा ।
सामर्थ्यं शक्तिः यथा,—‘मधुना मत्तः कोकिलः’ इति
मधुर्वसन्तः तस्यैव कोकिलमादने सामर्थ्यम् । श्रौचिती
युक्तता यथा,—‘गौरिका तु मनस्विनः’ इत्यत्र श्रौचित्येन
गौर्वाक् । “भाति गगने चन्द्रः” इति गगनरूपेण देशेन
चन्द्रः शशाङ्कः । ‘रात्रौ विभावसुः’ इति विभावसुर्वह्निः
दिवसे तु सूर्यः । व्यक्तिः स्त्रीपुंस्वादिकं लिङ्गं यथा,—
‘मित्रं भाति’ इति नपुंसकलिङ्गेन मित्रं बन्धुः, ‘मित्रो
भाति’ इति मित्रः सूर्यः । स्वरा उदात्तादयो वेदएव
प्रसिद्धाः ।

इत्थं संयोगादिभिरेकस्मिन्नर्थे नियमिते अर्थान्तरबो-
धनप्रतिरोधेन तन्मात्रे एव व्यवस्थापितं यथा अर्थान्तरं
बोध्यते सा अभिधामूला व्यञ्जना । यथा,—

“कुवेरगुप्तां दिग्गमुष्णरश्मौ गन्तुं प्रवृत्ते समयं विलङ्घ्य ।
दिग्दक्षिणा गन्धर्वहं मुखेन व्यलीकनिश्वासमिवोत्सर्ज” ॥

(१३) कुमारस०

(१३) कुवेरगुप्तामिति । आकाशिकवसन्ताविर्भाववर्णनमितम् ।
उष्णरश्मौ सूर्ये समयं कालं विलङ्घ्य अकाले इत्यर्थः कुवेरगुप्तां
धनप्रतिरजितां दिग्गमुत्तरामित्यर्थः गन्तुं प्रवृत्ते उद्यते दक्षिणा दिक्
मुखेन प्रारम्भेण व्यलीकनिश्वासमिव दुःखनिश्वासमिव व्यलीकन्त्वप्रिया-
वृत्ते इत्यन्तरः । गन्धर्वहं वायुम् उत्सर्जं तत्प्राज दक्षिणो वायुर्वहति
ओति भावः । अत्र प्रकरणेन उष्णरश्मिशब्देन सूर्यरूपे कुवेरशब्देन
धनप्रतिरूपे दक्षिणाशब्देन तदाख्यद्विष्युषे मुखशब्देन प्रारम्भरूपे

“आच्छादितायतदिगन्तरमुच्चकैर्गा-

माक्रम्य संस्थितमुदग्रविशालशृङ्गम् ।

मूर्द्ध्नि खलत्तुहिनदीधितिकोटिमेन-

मुह्वीक्ष्य को भुवि न विस्मयते नगेशम्” ॥ (१४)

शिशुपालबधम् ।

प्रथमे दक्षिणाशब्दस्य प्रकरणवशात् तदभिधानदिग्-
रूपेऽर्थे नियमिते व्यञ्जनया दाक्षिण्यशीलनायिकारूपोऽर्थः,
द्वितीये च नगेशशब्दस्य प्रकरणेन रैवतकपर्वतरूपेऽर्थे निय-
मिते व्यञ्जनया शिवरूपोऽर्थो बोध्यते ।

अर्थे नियमिते व्यञ्जनया उग्ररश्मौ साहसिके पुरुषे कुबेरेण कुत्सित-
शरीरेण केनचित् पुरुषेण गुप्तां रक्षितं कामिनीमिति शेषः गन्तुं
प्रवृत्ते सति तदीया दक्षिणा दाक्षिण्यवती सुचरितेति भावः कामिनी
सुखेन वदनेन दुःखनिश्वासं त्यजतीति व्यङ्ग्यार्थोऽभिहित इति द्रष्टव्यम् ।

(१४) आच्छादितेति । को जनः आच्छादितं व्याप्तम् आयतं
दीर्घं दिगन्तरं दिग्भागो येन तथोक्तम् उच्चकैः उन्नतं गां पृथिवी-
माक्रम्य अवष्टभ्य संस्थितं वर्त्तमानम् उदयाणि उन्नताणि विशालानि
महानि शृङ्गाणि यस्य तादृशं मूर्द्ध्नि शिरसि शिखरे इत्यर्थः खलन्
संलग्नं तुहिनदीधितेः चन्द्रस्य कोटिर्यस्य तथाविधम् अत्युन्नतत्वादिति
भावः एनं नगेशं पर्वतराजम् उह्वीक्ष्य न विस्मयते न चिन्तयते स
एव विस्मयं गच्छतीत्यर्थः । अत्र प्रकरणेन गोशब्देन पृथिवीरूपे,
शृङ्गशब्देन शिखररूपे मूर्द्ध्नि शब्देन शिखररूपे नगेशशब्देन पर्वतरूपे
अर्थे नियमिते व्यञ्जनया उदग्रविशालशृङ्गं गां वृषम् आक्रम्य आ-
स्थाय संस्थितं मूर्द्ध्नि शिरसि विराजितषट्कजं नगेशं गिरीशम् उह्व-
वीक्ष्य दृष्ट्वा को जनः न विस्मयते इति व्यङ्ग्यार्थोऽभिहित इति
बोध्यम् ।

लक्षणामूलामाह विश्वनाथः,—

“लक्षणोपास्यते यस्य कृते तत्तु प्रयोजनम् ।

यथा प्रत्याय्यते सा स्याद् व्यञ्जना लक्षणाश्रया”॥

(१५)

उपास्यते आश्रीयते विधीयते इति यावत्, प्रत्याय्यते बोध्यते । यथा ‘गङ्गायां घोषः’ इत्यत्र प्रवाहविशेषरूपार्थ-
बोधनादभिधायां, तटरूपार्थबोधनाल्लक्षणायाञ्च विर-
तायां यथा शीतत्वपापनत्वातिशयरूपं प्रयोजनम् बोध्यते
सा लक्षणामूला व्यञ्जना ।

आर्थी व्यञ्जनामाह,—

“वक्तृबोद्धव्यवाक्यानां काकोशेष्टादिकस्य च ।

वैशिष्ट्यादन्यमर्थं या बोधयेत् सार्थसम्भवा” ॥ (१६)

विश्वनाथः ।

सा पर्यसम्भवा आर्थी, व्यञ्जनेतिशेषः । यं पुरुषं
बोधयितुं शब्द उच्चार्यते स बोद्धव्यः, काकुर्ध्वनेर्विकारः,
वैशिष्ट्यात् विशेषयोगात् ।

(१५) लक्षणेति । यस्य प्रयोजनस्य कृते बोधनिमित्तं लक्षणा
उपास्यते अङ्गीक्रियते तत्तु प्रयोजनं यथा प्रत्याय्यते बोध्यते, सा
लक्षणाश्रया लक्षणामूला व्यञ्जना स्यात् ।

(१६) वक्तृबोद्धव्येति । वक्ता च बोद्धव्यश्च वाक्यञ्च तेषां काकोः
ध्वनिविकारविशेषस्य काकुः स्त्रियां विकारो यः शोकभीत्यादिभि-
र्ध्वनेरित्यमरः । चेष्टादिकस्य च वैशिष्ट्यात् विशेषयोगात् या अन्यमर्थं
बोधयेत् सा पर्यसम्भवा आर्थी व्यञ्जनेति शेषः ।

यथा 'गतीऽस्तमर्क' इति वाक्येन आस्तिके द्विजाती वृत्तरि प्रतिपाद्ये वा 'सम्यावन्दनस्यायमवसर' इति, गीपालवालके वृत्तरि प्रतिपाद्ये वा "संक्रियन्तां गावो गृहं प्रतिनिवर्त्तामहे" इत्यादिका अर्था वृत्तादिवैशिष्ट्यात् प्रतीयन्ते । यथा वा,

“तथाभूतां दृष्ट्वा नृपसदसि पाञ्चालतनयां
वने व्याधैः सार्द्धं सुचिरमुषितं वल्कलधरैः ।

विराटस्यावासे स्थितमनुचितारम्भनिभृतं

गुरुः खेदं खिन्ने मयि भजति नाद्यापि कुरुषु” ॥ (१७)

वेणीसं० ।

अत्र मयि न योग्यः खेदः कुरुषु तु योग्य इति काक्ता प्रकाशयते ।

इति शब्दार्थनिरूपणं नाम द्वितीयशिखा ।

(१७) तथाभूतामिति । नृपसदसि राजसभायां तथाभूतां केशाम्बरयोराकृष्टामिति भावः पाञ्चालतनयां द्रौपदीं वने व्याधैः सार्द्धं वल्कलधरैः सङ्गिः सुचिरं दीर्घकालमुषितं स्थितं तथा विराटस्य आवासे सद्ये अनुचितः य आरम्भः कर्म रूपकारत्वादिकमिति भावः तत्र निभृतं समासकृतं यथा तथा स्थितं दृष्ट्वा गुरुः आर्यः युधिष्ठिर इति यावत् खिन्ने सुदुःखिते क्षुभिते इति यावत् मयि खेदं क्षोभं भजति अद्यापि कुरुषु धार्तराष्ट्रेष्विति यावत् न खेदं भजतीत्यर्थः । कुरुवस्तादृशनिकारकारिणोऽपि न राज्ञः खेदं जनयन्ति, निकारक्षुभितं मां दृष्ट्वा खेदं करोति राजा इत्यहो महच्चिन्तमिति काक्ता व्यज्यते इति बोध्यम् ।

इति द्वितीयशिखा ।

तृतीयशिखा ।

ध्वन्यादिभेदेन काव्यस्य भेदवयमाह,—

काव्यं ध्वनिगुणौभूतव्यङ्ग्यं चित्तमिति विधा । (१)

ध्वनिं लक्षयति विश्वनाथः,—

“वाच्यातिशयिनि व्यङ्ग्ये ध्वनिस्तत् काव्यसुत्त-
मम्” ।

यस्मिन् काव्ये व्यङ्ग्यार्थो वाच्यार्थादधिकचमत्कारी
तन्नाम ध्वनिः, तच्च उत्तमं काव्यम् ।

“भेदौ ध्वनेरपि द्वावुदीरितौ लक्षणाभिधामूलौ ।
अविवक्षितवाच्योऽन्यो विवक्षितान्यपरवाच्यश्च” ॥

विश्वनाथः । (२)

लक्षणामूलः अभिधामूलश्चेति ध्वनेर्द्वौ भेदौ, तौ च
क्रमेण अविवक्षितवाच्यः विवक्षितान्यपरवाच्यश्चेति नाम-
भ्यामपि व्यपदिश्येते । तत्र अविवक्षितं बाधितस्वरूपं
वाच्यं यत्र स अविवक्षितवाच्यो नाम लक्षणामूलो ध्वनिः,

(१) काव्यमिति । ध्वन्यते अस्मिन्निति ध्वनिः । अन्यत् स्पष्टम् ।

(२) भेदाविति । ध्वनेरपि लक्षणाभिधामूलौ द्वौ भेदौ उदी-
रितौ कथितौ, तत्र लक्षणामूलो नाम अविवक्षितवाच्यः, अभिधा-
मूलो विवक्षितान्यपरवाच्यः ।

लक्षणाभूतत्वादेवात्र वाच्यमविवक्षितम् । स च द्विविधः
अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यः, अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यश्च ।

यदाह विश्वनाथः,—

अर्थान्तरं संक्रमिते वाच्येऽत्यन्तं तिरस्कृते ।

अविवक्षितवाच्योऽपि ध्वनिर्द्वैविध्यमृच्छति ॥ (३)

यत्र स्वयमनुपयुज्यमानो मुख्योऽर्थः स्वविशेषरूपे
अर्थान्तरे परिणमति तत्र मुख्यार्थस्य स्वविशेषरूपेऽर्थान्तरे
संक्रमितत्वादर्थान्तरसंक्रमितवाच्यत्वम् । यथा,—

“त्वामस्मि वच्मि विदुषां समवायोऽत्र तिष्ठति ।

आत्मीयां मतिमास्थाय स्थितिमत्र विधेहि तत्” ॥ (४)

अत्र वचनादि उपदेशादिरूपतया परिणमति,
सम्बोधे आत्मीयभावाद्यतिशयश्च व्यङ्ग्यः ।

यत्र पुनः स्वार्थं सर्वथा परित्यजन्नर्थान्तरं बोधयति

(३) अर्थान्तरमिति । अविवक्षितवाच्यो ध्वनिः वाच्ये अर्थान्तरम् अर्थविशेषं संक्रमिते प्रविष्टे अथवा अत्यन्तं तिरस्कृते अपङ्गुते इत्यर्थः सति द्वैविध्यं द्वौ भेदौ मृच्छति प्राप्नोति तथाच अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यः अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य इति फलितम् ।

(४) त्वामिति । अस्मीति अव्ययम् अहमित्यर्थः त्वां वच्मि, अत्र विदुषां पण्डितानां समवायः समूहः तिष्ठति, तत् तस्मात् आत्मीयाम् आत्मने हितां मतिमादाय अत्र स्थितिं विधेहि कुरु । अत्र विधेहीति कथनेनैव वच्मीत्यस्य निरर्थकत्वे सुखार्थबाधात् लक्षणाया वचनस्य उपदेशरूपतया परिणाम इत्यतः वचनस्य व्यापकस्य उपदेशरूपविशेषार्थे संक्रमणमिति अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यत्वमिति बोध्यम् ।

तत्र मुख्यार्थस्यात्यन्ततिरस्कृतत्वादत्यन्ततिरस्कृतवाच्यत्वम् ।
 यथा 'उपकृतं बहु तत्र' इत्यादौ (८५०) पूर्वमुक्ते । अत्राद्यो
 मुख्यार्थस्यार्थान्तरे संक्रमणं प्रवेशः नतु तिरोभावः, अत-
 एवात्र अजहत्सार्था लक्षणा । द्वितीये सार्थस्यात्यन्तं
 तिरस्कृतत्वाज्जहत्सार्था ।

“विवक्षितञ्चान्यपरं वाच्यं यत्वापरस्तु सः” । (५)

मन्मटः ।

यत्र वाच्यं विवक्षितं प्रकाशितस्वरूपं सदन्यपरं
 व्यञ्जनिष्ठं सोऽपरः विवक्षितान्यपरवाच्यो ध्वनिः, अत्र
 हि वाच्योऽर्थः स्वरूपं प्रकाशयन्नेव व्यङ्ग्यार्थस्य प्रकाशकः,
 यथा प्रदीपो घटस्य ।

स च द्विविधः असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यः संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यश्च ।

यदाह स एव,--

“कोऽप्यलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो लक्ष्यव्यङ्ग्यक्रमः परः”

(६)

(५) विवक्षितमिति । यत्र वाच्यं विवक्षितं किन्तु अन्यपरं
 व्यङ्ग्यार्थबोधप्रवणं स अपरः विवक्षितान्यपरवाच्य इत्यर्थः ।

(६) क इति । अलक्ष्यः अननुभवनीयः क्रमः पौर्वापर्यं यस्य
 तादृशं व्यङ्ग्यं यत्र सः अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यः । लक्ष्यः क्रमो यस्य तादृशं
 व्यङ्ग्यं यत्र सः लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य इति । स चेति स च व्यङ्ग्य इत्यर्थः ।
 विभावादीति विभावादयः विभावानुभावव्यभिचारिणः तेषां प्रतीतिः
 बोधः कारणं यस्य तत्त्वात् तदुक्तं विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगा-
 दसनिष्पत्तिरिति ।

न संलक्ष्यः सम्यगनुभूयमानः क्रमः प्रतीतिक्रमो यस्य तादृशं व्यङ्ग्यं यस्मिन् सोऽसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यः । स च रस-भावादिः । अत्र व्यङ्ग्यप्रतीतिर्विभावादिप्रतीतिकारणकत्वात् क्रमोऽवश्यमस्त्येव, किन्तु उत्पलपत्रशतव्यतिभेद-वज्राघवाच्च संलक्ष्यते ।

अथ कोऽयं नाम रसः के च विभावादय इत्याहुर्मन्मट-भट्टपादाः ।

“कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च ।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाद्यकाव्ययोः ॥
विभावा अनुभावाश्च कथ्यन्ते व्यभिचारिणः ।
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः” ॥
(७)

रत्यादेरित्यादिपदेन हासोत्साहादयो गृह्यन्ते । लौ-
किके उत्साहादीनां वक्ष्यमाणानां स्थायिभावानां यानि

(७) कारणानिति । कारणानि हेतुभूतानि आलम्बनरूपाणि नायकप्रतिनायकादीनि, उद्दीपनानि नायकप्रतिनायकचेष्टादीनि । तैः विभावाद्यैः व्यक्तः स्फुटीकृतः स्फुटताभावादितः । विलक्षण-प्रतीतिविषयीकृतः अलौकिकत्वेन बोधित इत्यर्थः । विभाव्यन्ते काव्य-नाट्यनिवेशितत्वेन विलक्षणत्वेन भाव्यन्ते प्रतीतिविषयीक्रियन्ते सह-दयैरिति विभावाः, अनु पश्चात् भवन्तीति अनुभावाः विभावत्वं गतानां नायकादीनां धर्मविशेषा इति यावत् । विशेषेण आभि-मुख्येन परिपोषकत्वेनेति यावत् चरन्तीति व्यभिचारिणः । तिष्ठतीति स्थायी यावत् सन्दर्भे स्थित इत्यर्थः ।

कारणानि उत्पादकरूपाणि नायकप्रतिनायकादीनि,
उद्दीपनरूपाणि नायकप्रतिनायकचेष्टादीनि, यानि
कार्याणि विपक्षाभिमुखगमनादीनि, यानि च सहका-
रीणि सहायभूतानि धृतिगर्वादीनि, तानि नाट्ये काव्ये
च चेन्निबध्ये रन्, क्रमेण विभावाः, अनुभावाः, व्यभिचा-
रिणश्च कथ्यन्ते । तैर्विभावादिभिर्व्यक्तः स्फुटीकृतः विल-
क्षणप्रतीतिविषयीकृत इति यावत् स्थायी भावः रसः
कथितः तद्विशेषानाह,—

आदिमो “हास्यकरणरौद्रवीरभयानकाः ।

वीभत्साङ्ग, तसंज्ञौ चेत्यष्टौ काव्ये रसाः स्मृताः” ॥

मन्मटः ।

एषां क्रमेणोदाहरणानि । आदिमस्य,—

“विट्खती शैलसुतापि भावमङ्गैः स्फुरद्बालकदम्बकल्पैः
साचीकृता चारुतरेण तस्यौ मुखेन पर्यस्तविलोचनेन” ॥ (८)

कुमा० ।

(८) विट्खतो इति । शैलसुता पार्वती अपि स्फुरन्ति विकसन्ति
यानि बालकदम्बानि अभिनवकदम्बपुष्पाणि तेभ्यः ईषद्भूतानि तैः
कदम्बकुसुमसदृशैरित्यर्थः सञ्जातरोमाञ्जरिति भावः अङ्गैः अवयवैः
भावं रत्याख्यं विट्खती प्रकाशयन्ती पर्यस्ते परितः जिप्ते हरा-
दन्त्यस्मिन् चालिते इत्यर्थः विलोचने नेत्रे यस्य तादृशेन अत एव
चारुतरेण अतिमनोहरेण मुखेन साचीकृता वक्रीकृता लज्जया
विष्टतसुखीति भावः तस्यौ स्थिता । अतः स्थायीभावो रतिः
पार्वतीरूपविभावेन तस्याच्च अङ्गानां रोमाञ्जोदयरूपानुभावेन पर्यस्त-

हास्यस्य,—

“भिन्नो ! सांसनिषेवणं प्रकुरूपे ? किं तेन सद्यं विना-
मद्यञ्चापि तव प्रियं ? प्रियमहो वाराङ्गनाभिः सह ।
तासामर्थरुचिः कुतस्तव धनं ? द्यूतेन चौर्येण वा
चौर्यद्यूतपरिग्रहोऽपि भवतो ? नष्टस्य कान्या गतिः” ॥(६)

करणस्य,—

अदृष्टदुःखो धर्मात्मा सर्वभूतप्रियंवदः

सयि जातो दशरथात् कथमुच्छेन वक्तुं येत् ॥

विलोचनत्वादिना लज्जारूपव्यभिचारिभावेन परिपुष्टा आदिरसत्व-
मापद्यते इति बोध्यम् ।

(६) भिन्नो इति । भिन्नविषयिणोरुक्तिप्रत्युक्ती । हे भिन्नो !
सांसनिषेवणं सांसभोजनं प्रकुरूपे ? इत्युक्तिः, सद्यं विना तेन
सांसेन किम् विना सद्यं सांसभोजनं दृष्टव्यर्थः इति प्रत्युक्तिः । मद्य-
ञ्चापि तव प्रियं प्रीतिकरम् ? इत्युक्तिः, अहो वाराङ्गनाभिः
वेश्याभिः सह प्रियं मद्यमिति शेषः केवलं सद्यं न मम प्रियं वारा-
ङ्गनाभोदसहितं सद्यं मम प्रियमित्यर्थः इति प्रत्युक्तिः । तासां
वाराङ्गनानाम् अर्थरुचिः धनलोभः विना धनं ता न प्रसीदन्तीति
भावः, तव धनं कुतः ? धनं नास्तीत्यर्थः भिन्नत्वादिति भाव इत्युक्तिः ।
द्यूतेन चौर्येण वा धनम् उपार्ज्यते मयेति शेष इत्युक्तिः, भवतः
तव चौर्यद्यूतपरिग्रहोऽपि, चौर्यं द्यूतञ्च भवता क्रियते ? इत्युक्तिः
नष्टस्य दुष्टतस्य अन्या अपरा गतिः का ? नैवेत्यर्थ इति प्रत्युक्तिः ॥
अत्र तथाविधभिन्नुरालम्बनविभावः तस्य च सांसनिषेवणादिकमनु-
भावः तत्तत्कार्यप्रवृत्तिकीर्तनेनाक्षिप्ता चपलता व्यभिचारिभावः
एतैः परिपुष्टो हासः सहृदयानां हास्यरसत्वमापद्यते इति बोध्यम् ।

(१०) अदृष्ट इति । न दृष्टं दुःखं येन सः अदृष्टदुःखः कदाप्य-
प्राप्तदुःखः, धर्मात्मा धार्मिकः सर्वभूतप्रियंवदः सर्वजनरञ्जन इति

यस्य भृत्याश्च दासाश्च स्वादून्यन्नानि भुञ्जते ।

कथं स भोक्ष्यते रामो वने मूलफलान्ययम्” ॥ (१०) रामा० ।

रौद्रस्य,—

“कृतमनुमतं दृष्टं वा यैरिदं गुरुपातकं

मनुजपशुभिर्निर्मम्यार्थादेर्भवद्भिरुदायुधैः ।

नरकरिपुणा सार्द्धं तेषां सभोमकिरीटिना-

मयमहमसृङ्गे दोमांसैः करोमि दिशां बलिम्” ॥ (११)

वैशी० ।

भावः सवि दशरथात् जातः राम इति शेषः कथं केन प्रकारेण उच्छेनं चेतपतितैकैकधान्योद्भयनेनेत्यर्थः वर्त्तयेत् दृष्टिं जीविकां कुर्यादित्यर्थः यस्य भृत्याः परिजनाः दासाः किङ्कराश्च स्वादूनि अन्नानि भुञ्जते, सोऽयं रामः वने मूलफलानि कथं भोक्ष्यते ? कौशल्याया उक्तिरियम् । अत्र राम आलम्बनविभावः तस्य उच्छे-
दत्त्या जीवनादिकमनुभावः कौशल्याया विषादावेगादिकञ्चाक्षिप्त-
व्यभिचारिभावः तैः परिपुष्टः सामाजिकानां शोकः कर्णरसत्वमाप-
द्यते इति बोध्यम् ।

(११) कृतमिति । अश्वत्थाम्न उक्तिः । यैः निर्मम्यार्थादेः मर्यादा-
धर्मव्यवस्था तद्दृष्टितैरित्यर्थः उदायुधैः अस्त्रधारिभिः मनुजपशुभिः
पशुरुपैर्मनुष्यैर्भवद्भिः इदं गुरुपातकं महापातकम् आचार्यं हनन-
रूपमिति भावः कृतम् अनुमतं वा दृष्टम् अयम् अहं नरकरिपुणा
कृष्णेन सार्द्धं सभोमकिरीटिनां कृष्णभीमार्जुनसंहितानामित्यर्थः तेषां
भवताम् असृङ्गमेदोमांसैः रक्तवसामांसैः दिशां बलिं पूजां बलिः
पूजोपहारयोरित्यमरः । करोमि तान् नाशयामीति भावः अत्राचार्य-
आलम्बनविभावः तस्य तथाविधहननादिकमनुभावः अश्वत्थाम्नो शर्वा-
सर्पादिकं व्यभिचारिभावः एतैः परिपुष्टः सामाजिकानां क्रोधः रौद्र-
रसत्वमायातीति बोध्यम् ।

वीरस्य,—

“क्षुद्राः सन्तासमेति विजहत् हरयः क्षुश्रुशक्नेभकुम्भा-
युष्मद्देहेषु लज्जां दधति परममी सायका निष्पतन्तः ।
सौमित्वे ! तिष्ठ पात्रं त्वमसि न हि रुपां नन्वहं मेघनादः
किञ्चिद्भूभङ्गलीलानियमितजलधिं राममन्वेषयामि” ॥(१२)
महाना० ।

भयानकस्य,—

“नष्टं वर्षवरैर्मेतुष्यगणनाभावादपास्य तपा-
मन्तः कञ्चुकिकञ्चुकस्य विंशति त्रासादयं वामनः ।

(१२) क्षुद्रा इति । क्षुद्रा एते हरयः कपयः सन्तासं विजहत्
त्यजन्तु, असौ क्षुश्रु शक्रस्य इभकुम्भौ ऐश्वर्यकुम्भौ यैः तथाभूताः
सायकाः शरा समेति शेषः युष्मद्देहेषु पतन्तः परस्व अत्यर्थं लज्जां
दधति धारयन्ति, हे सौमित्वे ! तिष्ठ, त्वमपि न हि नैव रुपां
क्रोधानां समेति शेषः पात्रं भाजनं न असि, ननु अहं मेघनादः
मेघ इव नदतीति तथोक्तः, किञ्चिद्भूभङ्गलीलया नियमितः बह्वः
जलधिर्येन तादृशं रामम् अन्वेषयामि । पुरा वदा सहता प्रयासे-
नापि सेतुबद्धं न शक्तः, तदा किञ्चित् क्रुपितं रामं वोच्यैव स्वयं
बभूवुः समागत्य चरणनिपतितः कोपं सान्त्वयन् स्वमेवात्मानं बन्ध-
नाय दत्तवानिति कथात्वानुसन्धेया । अत्रालम्बनविभावो रामः
तत्क्रोपविजृम्भितजलधिवन्धनादिकमनुभावः मेघनादस्य गर्वादिकं
व्यभिचारिभावः एतैः परिपुष्टः मेघनादोत्थाहः सामाजिकानां वीर-
रसत्वं लभते इति बोध्यम् ।

(१३) नष्टमिति । अश्वशालाया वानरं निर्गतं दृष्ट्वा वर्षवरादी-
नासावेगवर्णनमिदम् । वर्षवरैः स्त्रीभिः मनुष्यगणनाभावात् मनुष्येषु
अगण्यत्वादित्यर्थः तपां लज्जाम् अपास्य नष्टं प्रलापितम् । अयं

पर्यन्ताश्रयिभिर्निजस्य सदृशं नास्त्रः किरातैः कृतम्
कुजा नौचतयैव यान्ति शनकैरात्मेक्षणाशङ्किनः” ॥ (१२)
रत्नावली ।

बीभत्सस्य,—

“उत्कृत्योत्कृत्य कृत्तिं प्रथममथ पृथूच्छीयभूयांसि मांसा-
न्यं सस्मिक् पृष्ठपिण्डाद्यवयवसुलभान्युग्रपूतानि जग्ध्वा ।
अन्तःपर्यस्तनेत्रः प्रकटितदशनः प्रेतरङ्गः करङ्गा-
दङ्गस्थादस्थिसंख्यं स्पृष्टगतमपि क्रव्यमव्यग्रमस्ति” ॥ (१४)
मालतीमाधवम् ।

वासनः खर्वपुरुषः त्रासात् कञ्चुकिनः अन्तःपुरचरो दृष्टो विप्रो गुण-
गणान्वितः । सर्वकार्यार्थकुशलः कञ्चुकीत्यभिधीयते इत्युक्तलक्षणस्य
पुरुषस्य यः कञ्चुकः वारवाणः कञ्चुको वारवाणोऽस्तीत्यमरः । तस्य
अन्तः अभ्यन्तरं विशति । पर्यन्ताश्रयिभिः नगरप्रान्तवासिभिः कि-
रातैः व्याघ्रैः निजस्य नास्त्रः किरातेत्यस्य सदृशं किरं प्रान्तदेशम्
अतन्ति गच्छन्तीति व्युत्पत्तिर्लभ्यार्थांस्तुष्टुपमित्यर्थः कृतं पर्यन्तेषु
पलायितमिति भावः । कुजा आत्मनः ईक्षणं दर्शनं वानरकर्तृक-
मिति भावः तस्मात् आशङ्कन्ते इति तथोक्ताः सन्तः नौचतया सङ्कु-
चिततयैव शनकैः मन्दं मन्दं यान्ति गच्छन्ति । अत्र वानरनिर्गम-
आलम्बनविभावः तत् कार्यसुलभफनादिकमनुभावः वर्षवरादीनां
त्रासावेगादिकं व्यभिचारिभावः एतैः परिपुष्टा भीतिः सामाजिकानां
भयानकरसत्वमावातीति बोध्यम् ।

(१४) उत्कृत्येति । प्रेतरङ्गः प्रेताधमः प्रथमं कृत्तिं चर्म उत्कृत्य
उत्कृत्य कृत्त्वा कृत्त्वा अथ अन्तरं पृष्ठभिः सहृष्टभिः उच्छोथैः
स्फोटिताभिः भूयांसि प्रभूतानि, व्यंसञ्च स्मिक् च पृष्ठपिण्डश्च तेषु अव-
यवेषु अङ्गेषु सुलभानि सुप्रापानि उग्रपूतानि अतिदुर्गन्धानि मांसानि

अङ्ग तस्य,—

“मानुषीभ्यः कथं तु स्यादस्य रूपस्य सम्भवः ।

न प्रभातरलं ज्योतिरुदेति वसुधातलात्” ॥ (१५) अ० श० ।

एषां क्रमेण स्याद्विभावानाह मन्मटः—

“रतिर्हीनश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा ।

जुगुप्सा विस्मयश्चैव स्याद्विभावाः प्रकौर्त्तिताः” ॥

व्यभिचारिभावान् कथयति स एव,—

“निर्वेदग्लानिशङ्काख्यास्तथासूयामदम्भमाः ।

आलस्यञ्चैव दैन्यञ्च चिन्ता मोहः स्मृतिधृतिः ॥

प्रौढा चपलता हर्ष भावेगो जडता तथा ।

गर्वो विषाद श्रौत्सु क्यं निद्रापस्मार एव च ॥

जगद्धा भक्षयित्वा अन्तः अभ्यन्तरे शवस्येति शेषः पर्यस्ते पातिते नेत्रे येन तथोक्तः तथा प्रकटिता दशना दन्ता येन तथाविधः सन् कङ्क-
स्यात् करङ्कात् शवात् अस्थिसंस्थं कङ्कालान्तर्गतं स्फुटगतमपि अस्थि-
सन्निस्थितमपि क्रव्यं मांसम् अव्ययं व्ययतारहितं शनैःशनैरित्यर्थः
अस्ति भक्षयति । अत्र प्रेतरङ्ग आलम्बनविभावः तस्य तथाविधमांस-
भक्षणाद्विषादिकमनुभावः, तस्य च हर्षादयो व्यभिचारिभावाः एतैः
परिपुष्टा जुगुप्साख्यः स्याद्विभावः वीभत्सरसत्त्वं प्रतिपद्यते इति
बोध्यम् ।

(१५) मानुषीभ्य इति । पूर्वं व्याख्यातम् । अत्र शकुन्तला
आलम्बनविभावः तस्याः तथाविधरूपविनासादिकमनुभावः, औत्-
सुक्यादयो व्यभिचारिणः, तैः परिपुष्टो विस्मयाख्यः स्याद्विभावः
सामाजिकानाम् अङ्गतरसत्त्वमापद्यते इति बोध्यम् ।

सुप्तं प्रबोधोऽमर्षश्चाप्यवहित्यमधीयता ।

मतिर्व्याधिस्तथोन्मादस्तथा मरणमेव च ॥

तारुण्यैव वितर्कश्च विज्ञेया व्यभिचारिणः ।

तद्यस्त्रिंशदसौ भावाः समाख्यातास्तु नामतः ” ॥

“निर्वेदस्याविभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः” ॥

यथा—

“अहौ वा हारे वा कुसुमशयने वा दृग्दि वा

मणौ वा लोष्ट्रे वा बलवति रिपौ वा सुहृदि वा ।

तृणे वा स्त्रौ वा सम समदृशो यान्तु दिवसाः

क्वचित् पुण्ये ऽरण्ये शिव ! शिव ! शिवेति प्रलपतः” ॥ (१६)

* विपत्पातेन तत्त्वज्ञानादिना वा स्वावमानना निर्वेदः, परगुणादीनामसहिष्णुता असूया, मद्योपयोगेन चित्तविकाशो मदः, अभीष्टलाभादिना सम्पूर्णसृष्टता धृतिः, ग्रहाद्यावेशादिना मनःक्षेपः अपस्मारः, निद्रागतस्य विषयानुभवः सुप्तं, निन्दादिकर्तृवैरनिर्यातननिश्चयः अमर्षः, लज्जादिना हेतुना हर्षाद्याकारगोपनम् अवहित्यं, नीतिमार्गानुसरणादिनाऽर्थनिर्द्धारणं मतिः, अन्यत् स्पष्टम् ।

(१६) अहोविति । अहौ वा सर्पे वा हारे सुक्तादिरचित-कण्ठाभरणे वा, कुसुमशयने पुष्पशय्यायां वा, दृग्दि पाषाणे वा, मणौ हीरकादिरत्ने वा लोष्ट्रे मृत्पिण्डे वा, बलवति रिपौ शत्रौ वा सुहृदि मित्रे वा, तृणे वा स्त्रौ स्त्रियां वा स्त्रीशब्दात् स्वार्थे ण-प्रत्ययः । समदृशः तुल्यदृष्टेः सम क्वचित् कुत्रापि पुण्ये पवित्रे

“केचिच्चमत्कारितया वत्सलञ्च रसं विदुः” ॥

विश्वनाथः ।

यथा—

“यदाह धात्रा प्रथमोदितं वचो

ययौ तदीयामवलम्ब्य चाङ्गुलिम् ।

अभूच्च नम्रः प्रणिपातशिचया

पितुर्मदं तेन ततान सोऽर्भकः” ॥ (१७) रघु० ।

संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यमाह,—

यत्र व्यङ्ग्यप्रतीतेस्तु क्रमः सम्यग्विभाव्यते ।

स संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्तङ्गे दा बहवः स्मृताः ॥

यथा पूर्वोदाहृते (१२४०) कुवेरगुप्तामित्यादिश्लोके

अरण्ये कानने शिव शिव शिवेति प्रलपतः प्रलापं कुर्वतः सतः
दिवसा यान्तु गच्छन्तु । अत्र तथाविधसमदर्शी पुरुष आलम्बन-
विभावः तस्य सर्वत्र समदर्शनमनुभावः हर्षप्रबोधादयो व्यभिचारिणः
एतैः परिपुष्टो निर्वदः शान्तरसत्वमायातीति बोध्यम् ।

(१७) यदाहृति । सः अर्भकः शिशुः रघुरित्यर्थः धात्रा उप-
मात्वा प्रथमोदितं प्रथमतः उक्तं वचः आह ब्रवीति, तदीयां धात्री-
सम्बन्धिनीम् अङ्गुलिम् अवलम्ब्य ययौ च, प्रणिपातशिचया प्रणाम-
शिचयेन एवं गुरुवः प्रणम्या इत्युपदेशेनेत्यर्थः नम्रः नतशिरा इत्यर्थः
अभूच्च इति यत् तेन पितुः जनकस्य दिव्यपस्य सुदम् आनन्दं ततान
विस्तारयामास जनयामासेत्यर्थः । अत्रार्भक आलम्बनविभावः तस्य
चेष्टादिकमनुभावः हर्षादयञ्च व्यभिचारिणः तैः परिपुष्टः स्नेहाख्यः
स्याद्विभावः वत्सलरसत्वमापद्यते इति बोध्यम् ।

दक्षिणाशब्देन दाक्षिण्यश्लोचनाधिकारूपं वस्तु व्यज्यते ।
अथ च शब्दशक्त्युद्भवो वस्तुध्वनिः ।

गुणोभूतव्यङ्ग्यमाह—

अनुत्तमे गुणोभूतव्यङ्ग्यं व्यङ्ग्ये तु वाच्यतः ।

व्यङ्ग्ये व्यङ्ग्यार्थे वाच्यतो वाच्यार्थादनुत्तमेऽनधिकचम-
त्कारिणि सति गुणोभूतव्यङ्ग्यं, तच्च मध्यमं काव्यं कथ्यते ।
यथा,—

“अत्रासीत् फणिपाशबन्धनविधिः, शक्त्या भवद्देवरे
गाढं वक्षसि ताडिते हनुमता द्रोणाद्रिरत्राहृतः ।
दिव्यैरिन्द्रजित् लक्ष्मणशरैर्लोकान्तरं प्रापितः
केनाप्यत्र मृगाजि ! राक्षसपतेः कृत्ता च कण्ठाटवी” ॥ (१८)

(बालरामायण नाटकम्) ।

अत्र अनुनायकोपनायकप्रतिनायकेषु निर्दिष्टेषु
चतुर्थपादे नायको राम एवार्थशक्त्या प्रतीयते, स च
केनापीत्युपादानेन वाचायमानतयाऽगूढः कृत इति

(१८) अत्रेति । सीतां राजससङ्कटादुद्धृत्य पुष्पकरधमारूढेन
रामेण सीतां प्रत्युक्तमिदम् । हे मृगाजि ! मृगनयने ! अत्र अस्मिन्
स्थाने फणिपाशबन्धनविधिः नागपाशास्त्रबन्धनव्यापार आसीत्,
अत्र भवद्देवरे भवत्या देवरे लक्ष्मणे शक्त्या तदाख्यास्त्रविशेषेण वक्षसि
गाढं ताडिते प्रहृते रावणेनेति शेषः हनुमता द्रोणाद्रिः गन्ध-
मादनगिरिः आहृतः आनीतः, अत्र दिव्यैः अत्युत्कृष्टैरित्यर्थः
लक्ष्मणशरैः इन्द्रजित् लोकान्तरं प्रापितः निहत इत्यर्थः । अत्र
केनापि जनेन राक्षसपतेः रावणस्य कण्ठाटवी कण्ठवनं कृत्ता किञ्चा ।

व्यङ्ग्यस्य चमत्कारित्वमपनीतम् । चित्रकाव्यमाह,—

व्यङ्ग्यार्थहीनं काव्यं यत्तत्तु चित्रमिति स्मृतम् ॥

चित्रमिति गुणालङ्कारयुक्तं, व्यङ्ग्यार्थहीनं स्फुटप्रती-
यमानव्यङ्ग्यार्थरहितम्, तच्च प्रथमं काव्यमुच्यते ।

शब्दचित्रं वाच्यचित्रं द्विविधं तत्प्रकीर्तितम् ।

यत्र वाच्यार्थात् शब्दस्य प्राधान्येन चमत्कारित्वं तत्
शब्दचित्रम् । यथा,—

“कूजकुञ्जकुटीरकौशिकघटाघुत्कारवत्कोचक-
स्तम्बाङ्गस्वरमूकमौकुलिकुलः क्रौञ्चावतोऽयं गिरिः ।
एतस्मिन् प्रचलाकिनां प्रचलतामुद्दे जिताः कूजितै-
रुद्दे सन्ति पुराणचन्दनतरुस्कन्धेषु कुम्भीनसाः” ॥ (१६)
(उत्तररामचरितम्)

(१६) कूजदिति । कुजन्तीनां रटन्तीनां कुञ्जकुटीरेषु लतादि-
नेष्टितस्थानरूपकुण्डलहेषु कौशिकघटानां मेचकसङ्घानां घुत्कारः
शब्दविशेषः तद्वन्तः ये कोचकाः वेणुविशेषाः वेणवः कोचकास्ते सूर्ये
स्वनन्धनिर्लोडता इत्यसरः तेषां स्तम्बाङ्गस्वरेषु गुच्छविस्तारेषु मूकानि
मेचकभयात् निःशब्दानि मौकुलिकुलानि काकसमूहा यत्र तथाभूतः
अयं दृश्यमान इत्यर्थः क्रौञ्चावतः क्रौञ्चाः पक्षिविशेषा अत्र सन्तीति
तद्योक्तः गिरिः । एतस्मिन् गिरौ प्रचलताम् इतस्ततः सञ्चरतां
प्रचलाकिनां मयूराणां कूजितैः ध्वनिविशेषैः उद्देजिताः उद्देगं
प्रापिताः कुम्भीनसाः क्रूरसर्पाः पुराणानां चन्दनरूपां स्कन्धेषु
उद्देसन्ति निर्लीयन्ते ।

यत्र शब्दावाच्यार्थस्य प्राधान्येन चमत्कारित्वं तद्वा-
च्यचित्तम् यथा,—

“ते दृष्टिमात्रपतिता अपि कस्य नात्र

क्षोभाय पक्ष्मलदृशामलकाः खलाश्च ।

नीचाः सदैव सविलासमलीक लम्ना

ये कालतां कुटिलतामिव न त्यजन्ति” ॥ (२०)

इति काव्यप्रभेदनं नाम तृतीयशिखा ।

(२०) ते इति । ते पक्ष्मलदृशां पक्ष्मले नेत्रलोमशालिन्यौ दृश्यौ
नेत्रे यासां तथाभूतानां सुनयनानामित्यर्थः नारीणाम् अलकाः
चूर्णकुन्तलाः खलाः दुर्जनाश्च दृष्टिमात्रपतिता अपि अत्र संसारे कस्य
जनस्य क्षोभाय न ? अपि तु सर्वदैव क्षोभाय मनोविकाराय भव-
न्तीति शेषः ये अलकाः खलाश्च सदैव नीचा लताः क्षुद्राश्च तथा
सविलासं विलाससहितं यथा तथा अलीकलम्नाः भालस्थिताः
निथ्याप्रतारणादिरताश्च सन्तः कालतां कृष्णवर्णां मलिनताञ्च कुटि-
लतामिव कौटिल्यमिव भङ्गिवत्त्वमिवेत्यर्थः खलत्वमिव च न त्यजन्ति ।

इति तृतीयशिखा ।

चतुर्थशिक्षा ।

एवं ध्वनिगुणोभूतव्यङ्ग्यचित्रत्वेन काव्यस्य भेदव्य-
मुक्ता पुनर्दृश्यव्यव्यवभेदेन भेदद्वयमाह,—

“दृश्यव्यव्यवभेदेन पुनः काव्यं द्विधा मतम्” ।

विश्वनाथः ।

“दृश्यं तत्राभिनेयं तद् रूपारोपान्तु रूपकम्” ॥

विश्वनाथः । (१)

अभिनेयम् अभिनययोग्यम्, तच्च दृश्यं काव्यं नटैः
रामादिस्वरूपारोपाद्रूपकमिति च कथ्यते ।

अभिनयस्य स्वरूपं भेदाच्च कथ्यन्ते,—

“मवेदभिनयोऽवस्थानुकारः स चतुर्विधः ।

आङ्गिको वाचिकश्चैवमाहार्यः सात्विकस्तथा” ॥

नटैरङ्गेन, वाचा, वस्त्रालङ्कारादिभिः, मानसभावैश्च
रामयुधिष्ठिरादीनामवस्थानुकरणमभिनयः ।

दृश्यकाव्यानि कानिचिद् रूपकनान्नाऽपराणि उप-
रूपकनान्ना कथ्यन्ते । तत्र रूपकाणि नाटकप्रकरण-
ग्रहसनप्रभृतीनि दृश्यविधानि, उपरूपकाणि च नाटिका-

(१) दृश्यमिति । दृश्यं दर्शनीयं तत्र तयोरित्यर्थः अभिनेयम्
अभिनयार्हम् ।

लोटाकादीनि अष्टादशभेदानि । विशेषं विना सर्वेषामेव
स्वरूपं नाटकलक्षणसमानम् ।

नाटकलक्षणमाह विश्वनाथः,—

नाटकं ख्यातवृत्तं स्यात् पञ्चसन्धिसमन्वितम् ।
विलासञ्चादिगुणवद् युक्तं नानाविभूतिभिः ॥
सुखदुःखसमुद्भूति नानारसनिरन्तरम् ।
पञ्चादिका दशपरास्तत्राङ्गाः परिकीर्तिताः ॥
प्रख्यातवंशो राजर्षिधीरोदात्तः प्रतापवान् ।
दिव्योऽथ दिव्यादिव्यो वा गुणवान्नायको*मतः ॥

* नायकलक्षणमाह विश्वनाथः—

“त्यागी कृती कुलीनः सुश्रीको रूपयौवनोत्साही ।
दक्षोऽनुरक्तलोकस्तेजोवैदग्ध्यशीलवान् नेता” ॥
दक्षः क्षिप्रकारी शीलं सद्वृत्तम् एवमादिगुणसम्पन्नो
नेता नायको भवति । स च चतुर्विधः, धीरोदात्तः
धीरोद्धतः, धीरललितः, धीरप्रशान्तश्च ।

तेषां क्रमेण लक्षणमाह स एव,—

“अविकल्पनः क्षमावानतिगम्भीरो महासत्त्वः ।
स्थेयान्निगूढमानो धीरोदात्तो दृढव्रतः कथितः” ॥
अविकल्पनः अनात्मज्ञाघाकरः, महासत्त्वः हर्षशो-
कादिभिरनभिभूतस्वभावः, निगूढमानः विनयच्छन्नगर्वः,
दृढव्रतः अङ्गीकृतनिर्वाहकः, यथा रामयुधिष्ठिरादिः ।

चत्वारः पञ्च वा सुख्याः कार्यव्यापृतपूरुषाः ।
एक एव भवेदङ्गी" प्रथमो "वीर एव वा ॥

“मायापरः प्रगल्भः प्रचण्डश्चपलोऽहङ्कारदर्पभूयिष्ठः ।

आत्मस्वाधानिरतो धीरैर्धीरोद्धतः कथितः” ॥

माया कपटाचारः तत्परागणः, यथा भीमसेनादिः ।

“निश्चिन्तो मृदुरनिग्रहं कलापरी धीरललितः स्यात्” ।

कलाः नृत्यादिकाः यथा रत्नावल्यां वत्सराजः,—

(२) नाटकमिति । ख्यातं प्रसिद्धं महाभारतादिविविधं शेषः,
उक्तं चरितं यस्य तादृशम् । पञ्चभिः वक्ष्यमाणैः सन्धिभिः सुखादिभिः
समन्वितं युक्तम् । विलासः नायकस्य गुणविशेषः । तदुक्तं दर्पणे,

धीरा दृष्टिगतिश्चित्रा विलासे सखितं वच दति, ऋद्धिः सम्पद्
तदादयो गुणाः सन्त्यतेति तथोक्तं नानाविभूतिभिः विविधैरैश्वर्यैः
युक्तम् । सुखञ्च दुःखञ्च तयोः समुद्भूतः सम्यगुत्पत्तिः यस्मिन्
तथोक्तम् । नानारसैः शृङ्गारादिभिर्निरन्तरमविच्छिन्नं नाटकं भव-
तीति शेषः । तत्र नाटके पञ्चादिका दशपरा अङ्काः तदाख्याः परि-
च्छेदाः परिकीर्तिता उक्ताः । पञ्चाङ्गं षडङ्गं सप्ताङ्गम् अष्टाङ्गं
नवाङ्गं दशाङ्गञ्च भवतीत्यर्थः । प्रख्यातः प्रसिद्धो वंशो यस्य तादृशः
राजा अप्रिर्वेति राजर्षिः अप्रिवत् सदाचारपरायणः, धीरोदात्तः
अविकल्पतत्वादियुगशालीत्यर्थः प्रतापवान् कोपदण्डजतेजःशालीत्यर्थः
स प्रभावः प्रतापश्च यत्तेजः कोपदण्डजमित्यमरः । दिव्यः स्वर्गीयः
अथवा दिव्यादिव्यः दिव्यः सत्तदिव्यः, गुणवान् नायकसामान्यगुण-
शाली नायकः सतः कथितः । चत्वारः पञ्च वा सुख्याः प्रधानानि
कार्येषु तत्तदभिनयव्यापारेषु व्यापृताः निरताः पुरुषाः भवन्तीति
शेषः । प्रथमः आद्यः शृङ्गार इत्यर्थः वा वीरः एक एव उभयो-
दन्यतर एव अङ्गी प्रधानरसः भवेत् अन्ये सर्वे रसा अङ्गं तत् परि-

अङ्गमन्ये रसाः सर्वे कार्यं निर्वहणेऽङ्ग तम्* ।

(२)

“सामान्यगुणैर्भूयान् (३) विजादिको धीरप्रशान्तः स्यात्” ।

यथा मालतीमाधवे माधवः ।

* प्रकरणादिषु विशेषाः कथ्यन्ते विश्वनाथेन,—

“भवेत् प्रकरणे वृत्तं लौकिकं कविकल्पितम् ।

‘आदिमो’ऽङ्गी नायकसु विप्रोऽमात्योऽथ वा वणिक् ॥

सापायधर्मकामार्थपरो धीरप्रशान्तकः । (४)

नायिका कुलजा कापि वेश्या कापि द्वयं क्वचित्” ॥ (५)

यथा मृच्छकटिकमालतीमाधवादि ।

प्रोषका इति यावत् । निर्वहणं, चरमे सन्धौ उपसंहारे इत्यर्थः
अङ्गुतम् आचार्यं कार्यम् ।

(३) सामान्यगुणैरिति । सामान्यगुणैः नायकसामान्यगुणैः
त्यागो कर्तव्यत्वोक्तस्त्यागादिभिः, भूयान् प्रचुरः सामान्यनायकगुण-
शालीत्यर्थः ।

(४) भवेदिति । प्रकरणे तदाख्ये रूपके कविना कल्पितं रचितं
न तु प्रसिद्धमित्यर्थः लौकिकं स्वतः सम्भवीत्यर्थः वृत्तं चरितं भवेत् ।
आदिमः शृङ्गारः अङ्गी प्रधानं विप्रः, अमात्यः अथवा वणिक्
नायकः, स च सापायधर्मकामार्थपरः विनश्वरधर्मकामार्थसाधननिरतः
न तु निरपायमोक्षसाधनपर इति भावः तथा धीरप्रशान्तकः धीर-
प्रशान्त एवेति स्वार्थे कन्प्रत्ययः ।

(५) नायिकेति । कापि प्रकरणे नायिका कुलजा कुलीना,
कापि वेश्या, कापि द्वयं कुलीना वेश्या चेत्यर्थः ।

ख्यातं रामायणमहाभारतादिप्रसिद्धं रामयुधिष्ठिरा-
दिचरितम्, सन्धयो वक्ष्यमाणाः, विलासादयो नायक-
गुणाः तैर्युक्तम्, सुखदुःखसमुद्भवत्वं रामयुधिष्ठिरादिवृत्ता-
न्तेष्वभिव्यक्तम्, नानाविधैरसैनिरन्तरमविच्छिन्नम्, राज-
र्षयो दुष्यन्तादयः, दिव्याः श्रीकृष्णादयः, दिव्योऽप्यात्मानि
नराभिमानो दिव्यादिव्यः श्रीरामचन्द्रः, निर्वहणे पञ्चमे
सन्धौ ।

“भवेत् प्रहसने वृत्तं निन्द्यानां कविकल्पितम् ।

अङ्गौ हास्यरसो नात्र विष्कम्भकप्रवेशकौ ” ॥ (६)

यथा वसन्ततिलक हास्यार्णवकौतुकसर्वस्वादौ ।

“नाटिका क्लृप्तवृत्ता स्यात् स्त्रीप्राया चतुरङ्गिका ।

प्रख्यातो धीरललितस्तत्र स्यान्नायको नृपः ॥

स्यादन्तःपुरसम्बन्धा सङ्गीतव्यापृतायवा ।

नवानुरागा कन्याऽत्र नायिका नृपवंशजा ॥

सम्प्रवर्तेत नेतास्यां देव्यास्तासेन शङ्कितः ।

देवी पुनर्भवेद् ज्येष्ठा प्रगल्भा नृपवंशजा ॥

पदे पदे मानवतौ तद्वशः सङ्गमो द्वयोः ।

वृत्तिः स्यात् कौशिकी सत्यविमर्षाः सन्धयः पुनः” ॥ (७)

(६) भवेदिति । प्रहसने तदाख्ये रूपके कविना कल्पितं रचितं
निन्द्यानां निन्दनीयानां वृत्तं चरितं भवेत् । अत्र हास्यरसः अङ्गौ
प्रधानम् । अत्र विष्कम्भकप्रवेशकौ वक्ष्यमाणलक्षणौ न स्त इति शेषः ।

(७) नाटिकेति । क्लृप्तं रचितं वृत्तं यस्याः तथोक्ता, स्त्रीप्राया
स्त्रीवद्भा, तथा चतुरङ्गिका अङ्गचतुष्टयशालिनी स्यात् । अन्तःपुर-

अङ्गलक्षणमाह,—

“प्रत्यक्षनेतृचरितो रसभावसमुज्ज्वलः ।
 नानाविधानसंयुक्तो बीजसंहतिमान्न च ॥
 युक्तो न बल्लभिः कार्यैर्नातिप्रचुरपद्यवान् ।
 आवश्यकानां कार्याणामविरोधाद् विनिर्मितः ॥
 नानेकदिननिर्वर्त्य कथया संप्रयोजितः ।
 आसन्ननायकः पात्रैर्युतस्त्रिचतुरैस्तथा ॥
 बधयुद्धविवाहाद्यैर्वर्जितो नातिविस्तरः ।
 देवौपरिजनादीनां प्रत्यक्षचरितैर्युतः ॥

विमर्षश्चतुर्थः सन्धिः । यथा रत्नावल्यादिः ।

“सप्ताष्टनवपञ्चाङ्गं दिव्यमानुषसंश्रयम् ।

दोटकं नाम तत् प्राहुः प्रत्यङ्गं सविदूषकम्” ॥

यथा विक्रमोर्वशी ।

सम्बन्धा अन्तःपुरसम्बन्धवती अन्तःपुरस्थितेत्यर्थः । कन्या कुमारी ।
 नेता नायकः । अस्यां कन्यायाम् । देव्या राजमहिष्याः । इयोः
 नायिकानायकयोः । कोशिकी वृत्तिः या सङ्क्षेपेणैवविशेषचित्रा
 स्त्रोसङ्गुला प्रोज्ज्वल नृत्यगीता । कामोपभोगप्रचुरापचारा सा कौ-
 शिकी चारुचित्रासशीलेत्युक्तलक्षणा । स्वल्पः न्यूनः विमर्षः तदास्व-
 सन्धिभेदः द्वेष तादृशाः सम्बन्धः अन्ये सुखादय इत्यर्थः अत्र भवन्तीति
 शेषः । अन्यत् सुगमम् ।

(८) प्रत्यक्षेति । प्रत्यक्षं प्रत्यक्षवदाभासमानं नेतृनायकस्य चरितं
 यत्र तथाविधः, रसेन भावेन देवादिविषयकरत्नादिना तदुक्तं दर्पणे,
 सञ्चारिणः प्रधानानि देवादिविषया रतिः । उदुबुद्धनालः स्वादी

अन्तनिष्कान्तनिखिलपातोऽङ्क इति कीर्तितः” ॥
(८)

भावाः देवादिविषयकरत्वादयः, बीजस्य * संहतिः
सङ्कोचः,—

“तत्र पूर्वं पूर्वरङ्गः सभापूजा ततः परम् ।
कथनं कविसंज्ञादेर्नाटकस्याप्यथामुखम्” ॥

तत्र नाटके, सभापूजा विनीतवचनादिना सभ्याना-
माभिमुख्यसम्पादनम् । आमुखं प्रस्तावना ।

* स्वल्पमात्रं समुद्दिष्टं बहुधा यद्विनर्पति ।

फलावसानं यच्चैवं बीजं तदिह कीर्तितम्” । भरतः ।

च भाव इत्यभिधीयते इति समुच्चलः सम्प्रापित इति भावः, नाना-
विधानैः विविधानुष्ठानैः नानाविधव्यापारैरित्यर्थः संयुक्तः संहितः
अलङ्कृत इति यावत् बीजस्य मूलीभूतकारणविशेषस्य संहतिः संहारः
विलोप इत्यर्थः सा अस्यास्तीति तथाभूतः न, बीजसङ्गायसंहित इत्यर्थः ।
बहुभिः अतिविस्तृतैरित्यर्थः कार्यैः व्यापारैः न युक्तः, नातिप्रचुरपद्य-
मान् नातिबहुलपद्यसन्वित इत्यर्थः आवश्यकानाम् अवश्यकर्तव्यानां
सामयिककार्याणाम् अवरोधात् अबाधात् विनिर्मितः रचितः ।
अनेकदिननिर्वर्त्यकथया बहुदिनसमाप्यकथया न रस्ययोजितः न
कल्पितः । लिखतुरैः लिखितुर्भिर्वा पात्रैः नटैर्युतः तथा आसन्नः
सम्बद्धः नायको यत्र तादृशः, बहुयुद्धविवाहादिरहितः देवीपरिजना-
दीनां प्रत्यक्षचरितैः प्रत्यक्षवटाभासमानैश्चरितैः युतः । अन्ते शेष्ठे
निष्कान्तानि निखिलानि पात्राणि यस्य तथोक्तः अङ्क इति कीर्तितः
कीर्तितः ।

पूर्वरङ्गस्य लक्षणमाह,—

“यन्नाद्यवस्तुनः पूर्वं रङ्गविघ्नोपशान्तये ।
कुशीलवाः प्रकुर्वन्ति पूर्वरङ्गः स उच्यते” ॥ (६)

अस्य नान्दीनामाङ्गस्य स्वरूपमाह भरतः,—

“देवद्विजट्टपादीनामाशीर्वादपरायणा ।
नन्दन्ति देवता यस्मात् तस्मान्नान्दीति संज्ञिता” ॥
(१०)

सूत्रधारः * नान्दीं प्रयोज्य काव्यार्थसूचकैर्मधुरैर्वचनैः
रङ्गस्थान् सभ्यान् प्रसाद्य रूपकस्य कवेष्व आख्यां कवेः
गीतायपि कीर्त्तयेत् । ततः प्रस्तावना । तल्लक्षणमाह
भरतः,—

* सूत्रम् अभिनयानुष्ठानं धारयति यः सः । इटानीं
सूत्रधार एव काव्यस्थापनादिकं सर्वमेव स्थापककार्यं
प्रयोजयतीति व्यवहारः । स्थापकाभिधानं नटान्तरं
न दृश्यते ।

(६) यदिदं । कुशीलवा नटाः रङ्गविघ्नोपशान्तये नाद्यव्याघात-
निवारणाय नाद्यवस्तुनः अभिनयव्यापारस्य पूर्वं यत् देवताध्यानादिकं
कुर्वन्ति स पूर्वरङ्गः उच्यते रङ्गात् पूर्वं क्रियमाणत्वादस्य पूर्वरङ्गसंज्ञेति
बोध्यम् ।

(१०) देवति । देवद्विजट्टपादीनाम् आशीर्वादः शुभशंसनं परम्
कथनम् आश्रयो यस्यास्तादृशी वा वाक् नटैः कीर्त्तयते इति शेषः
यस्मात् देवता नन्दन्ति तद्वन्ति तथेति शेषः तस्मात् सा नन्दयतीति
व्यत्यत्या नान्दीति संज्ञिता कीर्त्तिता ।

“नटी विदूषको वापि पारिपार्श्विक एव वा ।
 सूत्रधारेण सहिताः संलापं यत्र कुर्वते ॥
 चित्रैर्वाक्यैः स्वकार्योत्थैः प्रस्तुताच्चेपिभिर्मिथः ।
 आमुखं तत्तु विज्ञेयं नाम्ना प्रस्तावनापि सा” ॥

(११)

नटीति स्त्रीत्वमविवक्षितम्, प्रस्तुतस्य आच्चेपिभिर्ब-
 द्धो धर्कैः । तद्देहाः कथितास्ते नैव,—

“उद्घात्यकं कथोद्घातः प्रयोगातिशयस्तथा ।
 प्रवृत्तकावलगिते आमुखाङ्गानि पञ्च वै †” ॥

एषां क्रमेण लक्षणमाह स एव,—

“पदानि त्वगतार्थानि तदर्थगतये नराः ।
 योजयन्ति पदैरन्यैस्तदुद्घात्यकमुच्यते” ॥ (१२)

† द्रुपणे उद्घात्यकमिति पुंलिङ्गान्तं प्रवृत्तकेत्यस्य
 स्थाने प्रवृत्तं केति च दृश्यते ।

(११) नटीति । नटी विदूषकः वा पारिपार्श्विकः सूत्रधार-
 सदृशः प्रधाननटविशेषः सूत्रधारस्य पार्श्वचर इत्यर्थः सूत्रधारेण
 प्रधाननटेन सहिताः सङ्गताः सन्तः चित्रैः मनोहरैः स्वकार्योत्-
 थितैः उद्भूतैः प्रस्तुताच्चेपिभिः प्रकृतार्थसूचिभिः वाक्यैः मिथः
 परस्परं यत्नेत्यव्ययं यदित्यर्थः संलापं कुर्वते समालपन्तीत्यर्थः तत्तु
 तदेव आमुखं विज्ञेयं सा नाम्ना प्रस्तावनापि विज्ञेयेति शेषः ।

(१२) पदानीति । नरा नटा इत्यर्थः अगतार्थानि अवोहिता-
 भिप्रेतार्थानि पदानि तदर्थगतये तस्य अर्थस्य अभिप्रेतस्येत्यर्थः गतये

अगतः अबोधित इति यावत् अर्थो हृत्ततो दैस्तानि
तस्य हृत्ततस्यार्थस्य गतये बोधनाय । यथा सुद्वाराक्षसे, —

“सूत्र । क्रूरग्रहः सकेतश्चन्द्रमसम्पूर्णमण्डलमिदा-
नीमभिभवितु मिच्छति वलात् ।

अनन्तरं नेपथ्ये । आः क एष मयि जीवति चन्द्र-
गुप्तमभिभवितु मिच्छति ।

अत्र अन्यार्थवन्त्यपि पदानि हृत्ततार्थबोधनविरहात्
पदान्तरैर्योजयित्वा पात्रप्रवेशः ।

“सूत्रधारस्य वाक्यं वा यत्र वाक्यार्थमेव वा ।
गृहीत्वा प्रविशेत् पात्रं कथोद्घातः स उच्यते” ॥

वाक्यमादाय रत्नावल्याम् (१३) वाक्यार्थं गृहीत्वा
वेष्टाम् । (१४)

बोधाय अन्यैः पदैः योजयन्ति सङ्गमयन्ति इति यदिति शेषः तत्
उद्घातकमुच्यते ।

(१३) वाक्यमादाय रत्नावल्यां यथा । द्वीपादन्यस्मादपि सध्या-
दपि दिशोऽप्यन्तात् । आनीय भटिति घटयति विधिरभिमतमभि-
संखीभूय । इति सूत्रधारेण पठिते एवमेतत् कः सन्देहः द्वीपा-
दन्यस्मादपीत्यादि पठित्वा योग्यवरायणस्य प्रवेशः । इति दर्पणः ।

(१४) वाक्यार्थं गृहीत्वा वेष्टां यथा । निर्वाणवैरदृष्टनाः
प्रशमादरीणां नन्दन्तु पाण्डुतनयाः सह माधवेन । रत्नप्रसाधित-
भुवः क्षतविषहाय स्वस्था भवन्तु कुरुराजसुताः समृद्धाः ॥ इति
सूत्रधारेण पठितस्य वाक्यस्यार्थं गृहीत्वा नेपथ्ये आः दुरात्मन् ! तृषा
सङ्गलपाठक ! कथं स्वस्था भवन्तु मयि जीवति धार्तराष्ट्राः । ततः
सूत्रधारो निष्क्रान्तः । अथ भीमसेनस्य प्रवेशः ।

“यदि प्रयोग एकस्मिन् प्रयोगोऽन्यः प्रयुज्यते ।
तेन पात्रप्रवेशश्चेत् प्रयोगातिशयस्तदा” ॥ (१५)

यथा उत्तररामचरिते,—

“सूत्र । तत् किमनेन, एहि राजदारमेव स्वजाति-
समयेनोपतिष्ठाव इति स्तुतिप्रयोगोद्यते सूत्रधारे, नटेन,—

स्नेहात् सभाजयितुमेत्य दिनान्धमूनि
नीलोक्षवेन जनकोऽय मतो विदेहान् ।

देव्यास्ततो विमनसः परिसान्त्वनाय
धर्मासनादिशति वासगृहं नरेन्द्रः” ॥ (१६)

(उत्तररामचरितम्)

इति रामस्यान्तःपुरप्रवेशरूपं स्तुतिप्रयोगमतिशयानं
प्रयोगान्तरं प्रयुञ्जानेन सीतारामयोः प्रवेशः प्रयोजितः ।

(१५) यदिति । यदि एकस्मिन् प्रयोगे प्रसङ्गे अन्यः प्रयोगः
प्रसङ्गः प्रयुज्यते उल्लाप्यते, तेन चेत् यदि पात्रस्य नटस्य प्रवेशो
भवति तदासौ प्रयोगातिशयः स्यादिति शेषः ।

(१६) स्नेहादिति । जनको विदेहः स्नेहात् प्रीत्या सभाजयितुं
सम्भाषणादिना जामातृन् रामभरतादीन् प्रीणयितुम् एव अयो-
ध्यायां राजभवनमागच्छेत्त्यर्थः अमूनि एतानि दिनानि उत्सवेनानन्द-
व्यापारेण नीत्वा यापयित्वा विदेहान् जनपदान् स्वराज्यामित्यर्थः
गतः प्रस्थितः ततस्तस्मात् पितृगमनात् इत्यर्थः विमनसः उत्कण्ठि-
तायाः देव्याः सीतायाः परिसान्त्वनाय विनोदनाय नरेन्द्रः रामः
धर्मासनाद् विचारासनात् स्त्रीसिंहासनादित्यर्थः, वासगृहं शयना-
गारं विशति प्रविशति । राजकार्यसमि परित्यज्य देव्याः परिसान्त्व-
नार्थं स्वयमेव याति ।

“कालं प्रवृत्तमाश्रित्य सूत्रमृद् यत्र वर्णयेत् ।
तदाश्रयश्च पात्रस्य प्रवेशस्तत्प्रवृत्तकम्” ॥ (१७)

सूत्रमृत् सूत्रधारः । यथा,—

“आसादितप्रकटनिर्मलचन्द्रहासः

प्राप्तः शरत्समय एष विशुद्धकालः ।

उत्खाय गाढतमसं घनकालमुग्रं

रामो दशास्यमिव सम्मृतबन्धुजीवः” ॥ (१८)

ततो रामस्य प्रवेशः ।

(१७) कालमिति । प्रवृत्तम् उपस्थितं कालं समयं वसन्तादिकम्
आश्रित्य सूत्रमृत् सूत्रधारः यत्र वदित्वर्थः वर्णयेत् तत्तत्कालिकं
वस्तु इति शेषः स आश्रयः अलम्बनं यस्य तद्वयः तद्वज्रस्वेत्यर्थः
यः पात्रस्य प्रवेशः, तत् प्रवृत्तकम् ।

(१८) आसादितेति । आसादितः प्राप्तः प्रकटः सद्योज्ज्वलः
निर्मलः चन्द्रस्य हासः विकाशो येन तथोक्तः अन्यत्र आसादितः
मृहीतः प्रकटः सुतीक्ष्णः निर्मलः चन्द्रहासोऽभियेन तथोक्तः । वि-
शुद्धः सेवाद्यावरणराहित्यात् सच्छः अतएव कालः रस्यः अन्यत्र
विशुद्धः निर्दोषः कालः सर्वजनप्रियः । सम्मृतानि सद्युपचितानि
बन्धुजीवानि तदास्यपुष्पाणि येन तथोक्तः अन्यत्र सम्मृता रक्षिता
बन्धूनां जीवा जीवनोपाया येन तथोक्तः एष शरत्समयः गाढतमसं
निविडाम्बुजाराक्षकम् अन्यत्र सान्द्रतमोगुणाक्रान्तम् उपमं भयावहं
दशास्यमिव रावणमिव घनकालं वषट्कालम् अन्यत्र अतिहृष्टवर्णम्
उत्खाय उन्मूल्य प्राप्तः उपस्थितः । अत्र शरद्वर्णनमाश्रित्य पात्रस्य
रामस्य प्रवेशः ।

“यत्नान्यस्मिन् समावेश्य कार्यं मन्यत् प्रसाध्यते ।
 परानुरोधात् तज्ज्ञेयं नाम्नावलगितं बुधैः” ॥
 (१६)

समावेश्य सादृश्यमुद्भाव्य, यथा अभिज्ञानशकुन्तले । (२०)
 प्रस्तावनान्ते रूपकस्य प्रकृततिष्ठत्तमारभेत ।

“पताकास्थानकं योज्यं सुविचार्यै ह वस्तुनि” ।

इह रूपके, वस्तुनि इतिवृत्ते ।

तल्लक्षणमुक्तं भरतेन,—

“यत्नार्थं चिन्तितेऽन्यस्मिन् तल्लीनोऽन्यः प्रयुज्यते ।
 आगन्तुकेन भावेन पताकास्थानकन्तु तत्” ॥

यत्र एकास्मिन् विषये चिन्तिते तत्संसक्तः अपरोऽर्थः
 अतर्कितेन भावेन बोध्यते तत्पताकास्थानकम् । यथा
 उत्तरचरिते,—

(१६) यत्नेति । यत्न परानुरोधात् परस्य वस्तुनः अनुरोधात्
 अन्यस्मिन् परस्मिन् तद् वस्तुनीत्यर्थः समावेश्य सादृश्यमुद्भाव्य अन्यत्
 कार्यं प्रसाध्यते सम्पाद्यते, बुधैः विद्वद्भिः तत् नाम्ना अवलगितं
 ज्ञेयम् ।

(२०) अभिज्ञानशकुन्तले यथा । तवास्मि गीतरागेण हारिणा
 प्रसभं हृतः । एष राजेव दुष्मन्तः शारङ्गेणातिरंहसा ॥ अत्र
 दुष्मन्तरूपपात्रप्रवेशानुरोधेन तस्मिन्नेव सादृश्यमुद्भाव्य आत्मनो गीतेन
 हृतत्वरूपं कार्यं निष्पाद्यते इति बोध्यम् ।

“रामः । कथं प्रियवचना वक्षसि प्रसुप्तैव । निर्वर्ण्य
सन्निहम्,

इयं गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्त्तिर्नयनयो-

रसावस्थाः स्पर्शा वपुषि बहलचन्दनरसः ।

अयं कण्ठे बाहुः शिशिरमसृणो मौक्तिकसरः

किमस्या न प्रेयो यदि परमसह्यस्तु विरहः ॥ (२१)

प्रविश्य प्रतीहारो । देव ! उपस्थितो । (२२)

रामः । अये कः ।

प्रती । आसन्नपरिचारको (२३) दुष्मुखो” ।

अत्र दुष्मुखोपस्थितिरूपार्थे चिन्तिते सीताविरह-
रूपार्थः सूचितः ।

(२१) इयमिति । इयं सीता गेहे लक्ष्मीः श्रीः, नयनयोः
अमृतवर्त्तिः अमृताञ्जनतृप्तिकेत्यर्थः नितरां नेतानन्दिनीति यावत् ।
अस्याः सीतायाः असौ वपुषि शरीरे स्पर्शः बहलः सान्द्रः चन्दनरसः,
चन्दनरसस्पर्शवत् अस्याः शरीरस्पर्श इति भावः । कण्ठे अर्पित
इति शेषः अयं बाहुः अस्या इति शेषः शिशिरस्यासौ मसृणश्चेति
तथाविधः शीतलकोमल इत्यर्थः मौक्तिकसरः मुक्ताहार इत्यर्थः अस्याः
सीतायाः किं न प्रेयः प्रियतरमित्यर्थः न स्यात् सर्वमेव प्रेय इत्यर्थः
तु किन्तु यदि विरहः अस्या इति शेषः परम् व्यत्यर्थम् असह्यः
दुःसहः न स्यादित्यर्थः विरह एवास्या दुःसह इत्यर्थः ।

(२२) उपस्थितो । उपस्थित इति सं प्रिरह इति शेषः ।

(२३) आसन्नपरिचारको । आसन्नपरिचारक दुष्मुखः इति सं
परिचरति शेषते इति परिचारकः, आसन्नः सदा सन्निहितः स चासौ
परिचारकश्चेति तथोक्तः ।

यथा वा वेण्याम्,—

‘पण्याप्तमेव करभोर ! ममीरयुग्मम्’ । इति दुर्योधनेन कथिते । प्रविश्य सम्भ्रान्तः कञ्जुकी । ‘देव ! भग्नं भग्नम्’ इत्यनेन वायुना रथकेतनभङ्गरूपार्थं चिन्तिते भीमेन दुर्योधनोरभङ्गरूपार्थः सूचितः ।

यत्तु, युद्धवधादिकमन्यञ्चानुचितमङ्गेष्वदर्शनीयं तत्सर्व-
मर्थोपक्षेपकैः (२४) विष्कम्भकादिभिः सूच्येत । आदिपदेन प्रवेशकाद्वावतारादयो गृह्यन्ते ।

विष्कम्भकस्य लक्षणमाह धनञ्जयः,—

“वृत्तवर्त्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः ।
संक्षिप्तार्थस्तु विष्कम्भो मध्यपात्रप्रयोजितः*” ॥
(२५)

वृत्तवर्त्तिष्यमाणानाम् अतीतानां भाविनाञ्च, निदर्शकैः सूचकैः, मध्येन मध्यमाभ्यां वा पात्राभ्यां प्रयोजितः । यथा रत्नावल्यां प्रथमाङ्गादौ, अभिज्ञानशकुन्तले च चतुर्थाङ्गादौ ।

* ‘पाटावङ्गस्य दर्शितः’ इति दर्पणे पाठः ।

(२४) अर्थोपक्षेपकैः अर्थसूचकैरित्यर्थः ।

(२५) वृत्तेति । वृत्तानाम् अतीतानां वर्त्तिष्यमाणानां भविष्यतां कथांशानां कथाविभागानां निदर्शकः, सूचकः, संक्षिप्तः संक्षेपेणोक्तोऽर्थः प्रयोजनं यस्मिन् तथोक्तः मध्येन मध्यविधेन न प्रधानेन न नीचेनेति वाच्यं मध्याभ्यां वा पात्राभ्यां नटाभ्यां प्रयोजितः अभिनीतः विषय इति शेषः विष्कम्भ उच्यते इति शेषः ।

“प्रवेशकोऽनुदात्तोक्त्या नोचपात्रप्रयोजितः ।
अङ्गद्वयान्तर्विज्ञेयः शेषं विष्कम्भके यथा” ॥ (२६)

विश्वनाथः ।

अनुदात्तोक्त्या प्राकृतवचनेन अङ्गद्वयान्तरिति प्रथमा-
ङ्गेऽस्य प्रतिषेधः । यथा वेण्यां तृतीयाङ्गादौ ।

“अङ्गान्ते सूचितः पात्रैस्तदङ्गस्याविभागतः ।
यत्राङ्गोऽवतरत्येषोऽङ्गावतार इति स्मृतः” ॥
(२७)

यथा अभिज्ञानशकुन्तले पञ्चमाङ्गान्ते पात्रैः सूचितः
षष्ठाङ्गः तदङ्गस्य अङ्गविशेष इवावतीर्णः ।

नाटकलक्षणोक्तसन्धिलक्षणमुक्तं दशरूपके,—
अन्तरैकार्थसम्बन्धः सन्धिरेकान्वये सति” । (२८)

(२६) प्रवेशक इति । अनुदात्तोक्त्या प्राकृतवचनेन अङ्गद्वयान्तः
अङ्गयोरुभयोर्मध्ये इत्यर्थः नोचपात्रेण प्रयोजितः अभिनीतः कथा-
विभाग इति शेषः प्रवेशकः विज्ञेयः, शेषं एतद्वर्तिष्यमाणकथांश-
निर्देशकत्वादिकं विष्कम्भके यथा विष्कम्भकवत् अत्र योज्यमिति शेषः ।

(२७) अङ्गान्ते इति । अङ्गस्य परिच्छेदस्य अन्ते अवसाने पात्रैः
नटैः सूचितः प्रकटितः तदङ्गस्य तस्य अङ्गस्य अविभागतः विभागो
विच्छेदः स न भवतीति अविभागः तस्मात् अविभक्तभावेनेत्यर्थः यत्र-
त्यवयवं य इत्यर्थः अङ्गः अवतरति उत्तिष्ठति, एषः अङ्गावतार इति
स्मृतः ।

(२८) अन्तरेति । एकान्वये एकप्रयोजने सति अन्तरा मध्ये
एकेन अपरेणेत्यर्थः अर्थेन प्रयोजनेन सम्बन्धः संयोगः सन्धिः ।

एकेन प्रयोजनेनान्वितानां कथांशानामवान्तरेक-
प्रयोजनसम्बन्धः सन्धिः ।

तद्दे दानाह विश्वनाथः,—

“सुखं प्रतिमुखं गर्भो विमर्ष उपसंहृतिः”* ।

* “यत्र बीजसमुत्पत्तिस्तन्मुखं परिकीर्त्तितम्” । (२९)

विश्वनाथः ।

यथा अभिज्ञानशकुन्तले प्रथमाह्ने दुष्मन्तशकुन्तलयोः
परस्परानुरागरूपस्य बीजस्य उत्पत्तिः ।

“लज्जालज्ज इवोद्भेदस्तस्य प्रतिमुखं भवेत्” । (३०)

दशरूपकम् ।

तस्य बीजस्य, यथा तत्रैव द्वितीयेऽह्ने दुष्मन्तानुरागस्य
नातिपरिस्फुटप्रकाशः ।

(२९) यत्रेति । यत्र सम्बन्धौ बीजस्य ।

स्वल्पमात्रं समुद्दिष्टं वक्ष्यते यद्दु विमर्षति ।

फलभावमानं यच्चैवं बीजं तद्विष्टं कीर्त्तितम् ।

इत्युक्तलक्षणस्य समुत्पत्तिः समुद्भवः, तत् सुखं तदाख्यसन्धिरित्यर्थः
परिकीर्त्तितम् । यथा अभिज्ञानशकुन्तले नृगवारूपप्रयोजनसम्बन्धस्य
राज्ञः वनमार्गे शकुन्तलारूपदर्शनेन तदनुरागरूपप्रयोजनान्तरसम्बन्धः ।

(३०) लज्जालज्जेति । तस्य मुखस्य सन्धेः लज्जालज्ज इव

क्रियतांशेन लज्जः अनुमेवः क्रियता वा अनुमेवः अनुमेव इत्यर्थः
उद्भेदः उदयः प्रकाश इति यावत् प्रतिमुखं भवेत् ।

“फलप्रधानीपायस्य प्रागुद्भिन्नस्य किञ्चन ।

गर्भो यत्र समुद्भेदो ह्लासान्वेषणवान् मुहुः” ॥ (३१)

विश्वनाथः ।

यथा तत्रैव तृतीयेऽङ्के उभयानुरागस्य सम्यक् प्रकाशः

मुहुरन्वेषणं शकुन्तलाप्रस्थानादिना ह्लासय ।

“यत्र मुख्यफलोपाय उद्भिन्नो गर्भतोऽधिकः ।

शापाद्यैः सान्तरायस्य स विमर्ष इति स्मृतः” ॥ (३२)

दण्डेणः ।

यथा तत्रैव चतुर्थेऽङ्के उत्कर्षं प्राप्तोऽनुरागो दुर्वाससः

शापेन विधितः ।

“बीजवन्तो सुखाद्यार्था विप्रकीर्णा यथायथम् ।

ऐकार्धमुपनीयन्ते यत्र निर्वहणं हि तत्” ॥ (३३)

दशरूपकम् ।

(३१) फलेति । फलस्य प्रतिपादयिषितस्य वस्तुनः यः प्रधानो-
पायः तस्य किञ्चन कथञ्चनेत्यर्थः प्रागुद्भिन्नस्य पूर्वमुद्भूतस्य मुख्यसन्ने-
रिति शेषः यत्र य इत्यर्थः मुहुः पुनःपुनः ह्लासान्वेषणवान् समुद्भेदः
सम्यक् स्फुरणं स गर्भः ।

(३२) यत्नेति । यत्र मुख्यस्य प्रधानस्य फलस्य उपायः गर्भतः
गर्भसन्नेः अधिकः अतिरिक्तः उद्भिन्नः प्रकटतां गतः, शापाद्यैः
विघ्नविशेषैरिति भावः सान्तरायः अव्याघातः, स विमर्ष इति स्मृतः ।

(३३) बीजवन्त इति । बीजवन्तः सुखाद्यर्थाः सुखप्रतिसुखगर्भ-
विमर्षा इत्यर्थः यथायथं यथाशुर्ध्वं विप्रकीर्णा विच्छिन्नाः प्रयुक्ता
इत्यर्थः यत्र ऐकार्धम् एकप्रयोजनवत्त्वम् उपनीयन्ते प्राप्यन्ते तत् हि
निश्चितं निर्वहणम् उपसंहृतिरित्यर्थः ।

अथ नाव्योक्तयः,—

“सर्वश्राव्यं प्रकाशं स्यादश्राव्यं स्वगतं मतम् ।

रहस्यं कथ्यतेऽन्यस्य परावृत्यापवारितम् * ॥

त्रिपताककरेणानान्यानपवार्याऽन्तरा कथाम् ।

अन्योन्यामन्त्रणं यत् स्याज्जनान्ते तज्जनान्तिकम् † ॥

किं ब्रवीष्वेवमित्यादि विना पात्रं ब्रवीति यत् ।

श्रुत्वेवानुक्तमप्येकस्तत् स्यादाकाशभाषितम्” ॥

दशरूपकम् ।

यथा तत्रैव सप्तमाङ्के शकुन्तलादुपान्तयोर्मेलनरूप-
तया सर्वकार्याणामवसानम् । उपसंहृतेरेव नामान्तरं
निवेदनम् ।

* परावृत्य अन्यस्य रहस्यकथनमपवारितम् ।

† यस्य न श्राव्यं तस्यान्तरे जड्सर्वाङ्गुलं वक्राना-
मिकं त्रिपताकलक्षणं करं कृत्वाऽन्येन सह यन्मन्त्राते
तज्जनान्तिकम् ।

(३४) सर्वश्राव्यमिति । सर्वेषां श्राव्यं श्रवणाहं प्रकाशं स्यात् ।
अश्राव्यं स्वगतं मतम् । अन्यस्य परावृत्य यत् रहस्यं गोप्यं कथ्यते
तत् अपवारितम् । तिस्रः पताकाः यस्य तादृशेन करेण करस्या-
ङ्गुलितयेत्यर्थः अन्यान् अपवार्य आच्छाद्य कथामन्तरा कथामध्ये
जनान्ते जनसमीपे यत् अन्योन्यामन्त्रणं परस्परकथोपकथनं तत्
जनान्तिकम् । पात्रं सम्बोध्यजनं विना किं ब्रवीषि एवं इत्यादि,
अनुक्तमपि श्रुत्वेव एकः यद् ब्रवीति, तत् आकाशभाषितं स्यात् ।
गमेः गमघातोः स्थाने प्रायेण खल्लकः साधिः साधधातुः प्रयुज्यते ।

“प्रायेण ख्यन्तकः साधिर्गमे स्थाने प्रयुज्यते ।
 राज्ञा स्वामीति देवेति भृत्यैर्भट्टेति चाधमैः ॥
 राजर्षिभिर्वयस्येति तथा विदूषकेण च ।
 राजन्नित्यृषिभिर्वाच्यः सोऽपत्यप्रत्ययेन च ॥
 स्नेच्छया नामभिर्विप्रो विप्र आर्य्येति चैतरैः ।
 वयस्येत्यथवा नान्ना वाच्यो राज्ञा विदूषकः ॥
 वाच्यौ नटीसूत्रधारावार्य्यनान्ना परस्परम् ।
 सूत्रधारं वदेद्भाव इति वै पारिपाश्विकः ।
 (तं) सूत्रधारो मारिषेति हण्डे इत्यधमैः समाः ।
 वयस्येत्युत्तमैर्हन्ही मध्ये वार्य्यति चाग्रजः ॥
 भगवन्निति वक्तव्याः सर्वैर्देवर्षिर्लिङ्गिनः ।
 वदेद्वाञ्छीञ्च चेटीञ्च भवतीति विदूषकः ॥

राजा भृत्यैः स्वामीति देव इति, अधमैः नीचैः भट्टेति, राजर्षिभिः
 विदूषकेण च वयस्य इति ऋषिभिः राजन्निति अपत्यप्रत्ययेन वार्हादि-
 प्रत्यययोगेन दाशरथेत्वादिनेत्यर्थः वाच्यः वक्तव्यः सम्बोध्य इत्यर्थः ।
 विप्रः द्विजः स्नेच्छया यथाकामं नामभिर्वाच्य इत्यन्वयः । इतरैः
 अन्यैः विप्रभिर्नैरित्यर्थः विप्र आर्य्येति वाच्य इति शेषः । विदूषकः
 कुसुमवसन्ताद्यभिधः कर्मवपुर्वेशभाषाद्यैर्हास्यकरः कलहृरिति विदूषकः
 स्वात् स्वकर्म्मज्ञ इत्युक्तलक्षणो नर्मसचिवः राज्ञा वयस्य इति अथवा
 नान्ना वसन्तक इत्यादि रूपेणेत्यर्थः वाच्यः । नटीसूत्रधारौ परस्पर-
 रम् आर्य्यनान्ना वाच्यौ नद्या सूत्रधारः आर्य्येति सूत्रधारेण नटी
 आर्य्ये इति सम्बोध्येत्यर्थः । पारिपाश्विकः सूत्रधारस्य पार्श्वचरो नटः
 सूत्रधारं भाव इति वदेत् । सूत्रधारः तं पारिपाश्विकं मारिषेति
 वदेत् भावमारिषशब्दौ यथाकमं महाशय महार्य्यकौ नाटके प्रयुज्येते

आयुष्मन् रथिनं सूतो वृद्धं तातेति चेतः ।

वत्स पुत्रक तातेति नाम्ना गोत्रेण वा सुतः ॥

शिशोऽनुजश्च वक्तव्योऽमात्य आर्थ्येति चाधमैः ।

विप्रैरयममात्येति सचिवेति च भण्यते ॥

उपाध्यायेति चाचार्यः कुमारो भर्तृदारकः ।

सौम्यभद्रमुखेव्ये वमधमैस्तु कुमारकः ॥

वाच्या प्रकृतिभौराज्ञः कुमारो भर्तृदारिका" । दर्पणः ।

"हण्डे हञ्जे हलाह्वानं नीचं चेटीं सखीं प्रति" ॥ (३४)

अमरः ।

इति बोध्यम् । अधमैः नीचैः समाः तुल्या जनाः हण्डे इति वाच्या इति शेषः । उत्तमैः समाः वयस्येति तथा मध्येः समाः हंडो इति वाच्या इत्यन्वयः । अपजः ज्येष्ठः आर्थ्येति वाच्यः कनिष्ठैरिति शेषः । देवर्षिर्लिङ्गिनः देवा ऋषयः लिङ्गिनः सन्त्यास-धर्मिप्रसूतयः सर्वैः जनैः भगवन् इति वक्तव्याः । विदूषकः राज्ञीं चेटीं राज्ञीसहचरीमित्यर्थः भवतीति, सूतः सारथिः रथिनम् आयु-ष्मन् इति इतरः वृद्धभिन्नः युवकादिरित्यर्थः वृद्धं स्थविरं जनं तातेति वदेत् । सुतः पुत्रः शिष्यः छात्रः अनुजः कनीयांश्च वत्स, एतक, इति नाम्ना आख्यया गोत्रेण काश्यप इत्यादि रूपेणेत्यर्थः वक्तव्यः । अमात्यः अधमैः नीचैः आर्थ्येति, विप्रैः अमात्येति सचिवेति च भण्यते उच्यते । आचार्यः उपनीय वेदाध्यापयिता उपनीय ददद् वेदमाचार्यः स उदाहृत इति शास्त्रात् । उपाध्यायेति शिष्यैरिति शेषः वाच्यः । कुमारः भर्तृदारक इत्युच्यते । अधमैस्तु कुमारकः सौम्य भद्रमुख इत्येवं वाच्यः । प्रकृतिभिः अमात्यादिभिः राज्ञः कुमारो भर्तृदारिका वाच्या । नीचं प्रति हण्डे इति चेटीं प्रति हञ्जे इति सखीं प्रति हलेति आह्वानं सम्बोधनं कार्यमिति शेषः ।

अव्यकाव्यस्य लक्षणं भेदांश्चाह,—

अव्यं श्रोतव्यमात्रं तत् त्रिविधं परिकीर्तितम् ।
 पद्यं गद्यञ्च मिश्रञ्च पद्यं चतुष्पदौ मतम् ॥
 जातिर्द्वैतमिति द्वेधा जातिर्मात्राकृतेन तत् ।
 दृत्तमक्षरसंख्यातं पद्ये नैकेन सुक्तकम् ॥ (३५)
 द्वाभ्यान्तु युग्मकं त्रये त्रिभिः श्लोकैर्विशेषकम् ।
 कलापकं चतुर्भिः स्यात् तदूर्ध्वं कुलकं स्मृतम् ॥

पद्यमयस्य महाकाव्यस्य लक्षणमुक्तं काव्यादर्शे,—

“सर्गबन्धो महाकाव्यमुच्यते तस्य लक्षणम् ।
 आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखम् ॥
 इतिहासकथोद्भूतमितरद्वा सदाश्रयम् ।
 चतुर्वर्गफलोपेतं चतुरोदात्तनायकम् ॥

(३५) अव्यमिति । श्रोतव्यमात्रं केवलं श्रवणोपयुक्तं नत्वभिनयाहं-
 मिति भावः । पद्यं छन्दसा निबद्धं, गद्यं छन्दोरहितम् । जाति-
 रिति मात्रा ह्रस्ववर्णः तथा कृतं रचितं रचनमित्यर्थः तेन उपलक्षितं
 पद्यं जातिरित्यर्थः । अक्षरैः संख्यातं परिगणितं पद्यं दृत्तम् ।
 पद्येनेति एकेन पद्येन निबद्धमिति शेषः सुक्तकम् अन्त्याश्रयराहित्यात्
 स्वतःसिद्धमिति यावत् ।

(३६) सर्गबन्ध इति । सर्गेण तदाख्यपरिच्छेदेन बन्धः बन्धनं
 रचनमित्यर्थः यस्य तादृशं अव्यकाव्यं महाकाव्यं तस्य लक्षणं स्वरूपम्
 उच्यते । आशीः शुभाशंसनं नमस्क्रिया नमस्कारः वापि अथवा
 वस्तुनिर्देशः वस्तुनः इतिदृत्तस्य निर्देशः समुल्लेखः तन्मुखं तस्य महा-
 काव्यस्य मुखं प्रारम्भः । इतिहासकथाभिरुद्भूतम् उच्यते वा इतरत्

नगरार्णवशैलत्तु चन्द्रसूर्यादिवर्णनैः ।

अलङ्कृतमसंक्षिप्तं रसभावनिरन्तरम् ॥

सर्गैरनतिविस्तीर्णैः अव्यवृत्तैः सुसन्धिभिः ।

सर्वत्र भिन्नवृत्तान्तरूपे तं लोकरञ्जकम् ॥

काव्यं कल्पान्तरस्यायि जायते सदलङ्कृतिः ॥ (३६)

यथा रामायणरघुवंशशिशुपालवधनेषधचरितादि ।

“खण्डकाव्यं भवेत् काव्यस्यैकदेशानुसारि च” ।

यथा नेषदूतादि ।

अन्यत् कविकल्पितमिति भावः सदाश्रयम् उत्कृष्टाधारम् उत्तमं यस्तु
समाश्रित्य निबद्धमित्यर्थः । चतुर्वर्गफलोपेतं धर्मार्थकाममोक्षसाधन-
मित्यर्थः । चतुरोदात्तनायकं धीरोदात्तादिचतुर्विधनायकयुतम् ।
नगरेति नगरस्य पुरस्य अर्णवस्य समुद्रस्य, शैलस्य पर्वतस्य, चतूनां
योष्मादीनां चन्द्रसूर्यादीनाञ्च वर्णनैः अलङ्कृतं शोभितम् । असंक्षिप्तं
संक्षेपेण नाभिहितं विस्तीर्णमित्यर्थः । रसभावेति रसाः शृङ्गारा-
दयः, भावाः सञ्चारिणः प्रधानानि देवादिविषया रतिः । उद्बुद्ध-
मात्रः स्थायी च भाव इत्यभिधीयते इत्युक्तञ्चक्षणाः तैः निरन्तरं
निरवकाशं सततसन्निहितमित्यर्थः । सर्गैः तदाख्यपरिच्छेदैः अनति-
विस्तीर्णैः नातिविस्तारितैरित्यर्थः । अव्यवृत्तैः अवशोयचरितैः । सु-
सन्धिभिः सुष्ठु सन्धयः सुखप्रतिसुखगर्भविसर्गोपसंहृतिरूपाः पूर्वोक्ता
यत्र तादृशैः । लोकरञ्जकं लोकानन्दकरम् । कल्पान्तरस्यायि का-
व्यमयस्थिति । सदलङ्कृति अलङ्कारसहितम् ।

इति चतुर्थशिखा ।

“वृत्तबन्धोज्झितं गद्य” तद्देहास्तु कथादयः ।
यथा कादम्बर्यादि ।

गद्यपद्यमयं मिश्रं चम्परित्यभिधीयते ।

पद्यमिश्रत्वञ्चान् बाहुल्येनेति ज्ञेयम् । ततश्च काद-
म्बर्यादिषु एकद्वित्रिपद्यसत्त्वेऽपि न तेषां गद्यकाव्यत्व-
हानिः ।

इति दृश्यश्रव्यत्वभेदेन काव्यप्रभेदनं नाम चतुर्थशिक्षा ।

पञ्चमशिक्षा ।

दोषस्वरूपमाह, -

काव्यापकर्षका दोषास्ते पुनः पञ्चधा मताः ।
पदांशपदवाक्यार्थरसानां दूषणेन हि ॥

वे खलु पदवाक्यरसादिदूषणद्वारेण काव्यस्यापकर्ष-
मुत्पादयन्ति, ते नाम दोषनान्ना कथ्यन्ते । ते पुनः
पद-पदांश-वाक्यार्थरस-दूषणद्वारेण काव्यं दूषयन्तीति
प्रथमतः पञ्चविधाः । तत्र,

निरर्थकासमर्थत्वे च्युतसंस्कृतित्वञ्च पदगतान्येव ।

निरर्थकत्वम् अर्थहीनत्वं, यथा च, वा, हादीनि वृत्त-
पूरणमात्रप्रयोजनानि रामायणादिषु बाहुल्येन द्रष्टव्यानि ।

देवप्रयाग (गढ़वाली)

व्यवस्थापक- प. चन्द्रमणिशर्मा ।

असमर्थं तदर्थं पठितमपि तस्य अवाचकम् । यथा,
'कुक्षं हन्ति कशोदरी' इत्यत्र हन्तीति * गमनार्थं पठि-
तमपि न तत्र समर्थम् ।

चु तसंस्कारत्वं व्याकरणलक्षणहीनत्वम्, यथा,—
“गाण्डीवी कनकशिलानिभं भुजाभ्या
माजघ्ने विषमविलोचनस्य वक्षः” । (१) किरातार्जुनीयम् ।

‘आङो यमहनः’ [१ । ३ । २८ पा०] इत्यनुशासन-
बलादाङ्पूर्वस्य हनः स्वाङ्कर्मकस्याकर्मकस्य चात्मनेपदं
नियमितम् । इह तु तदुल्लङ्घितमिति व्याकरणलक्षणहीन-
त्वात् चु तसंस्कारत्वम् ।

दुःश्रवानुचितार्थत्वे ग्राम्यत्वं निहतार्थता ।

क्लिष्टत्वमप्रतीतत्वं विरुद्धमतिकारिता ॥

अविच्छेदविधेयांशभावः सन्दिग्धता तथा ।

परवाक्याश्रिता दोषाः † पदांशेष्येषु केचन ॥

* पदान्तरसहकारेण तु “पठति” इत्यादौ हन्तेर्गम-
नार्थत्वमस्येव ।

† एकमात्रस्य पदस्य दुष्टत्वे पददोषः, पदानामेका-

(१) गाण्डीवीति । गाण्डीवं तदाख्यं धनुः अस्यास्तीति ग-
ण्डीवी अर्जुनः कपिध्वजस्य गाण्डीवं गाण्डिवं पुनपुंसकमित्यमरः ।
भुजाभ्यां वाङ्भ्यां विषमाणि विरूपाणि विलोचनानि यस्य तथोक्तस्य
विलोचनस्येत्यर्थः कनकशिलानिभं स्वर्णप्रामाणसदृशं वक्षः आजघ्ने
आहतवान् ।

दुःश्रवत्वं परुषवर्णतया श्रुतिदुःखावहत्वम् * पदगतं
यथा,—

बन्धुभिः सादरं नेत्रैः पोयमानेव सा मुहुः

सुताननेन्दुपूर्णाङ्गा कार्त्तार्थं लभतां कदा ॥ (२)

अत्र कार्त्तार्थमिति श्रुतिकटुः । वाक्यगतं यथा,—

“सोऽध्यैष्ट वेदांस्त्रिदशानयष्ट पितृनतासीत् सममंस्त बन्धून् ।
व्यजेष्ट षड्वर्गमरंस्त नीती समूलघातं न्यबधीदरौंश्च” ॥ (३)

भट्टि० ।

धिकानां तथात्वे वाक्यदोषः, पदानां परिवर्त्तनेऽपि
दोषस्य तादवस्थ्येऽर्थदोषः इत्याहुः ।

* “वक्त्ररि क्रोधसंयुक्ते तथा वाच्ये समुद्धते ।

रौद्रादी तु रसेऽत्यन्तं दुःश्रवत्वं गुणो भवेत्” ॥ विश्वनाथः ।

(२) बन्धुभिरिति । बन्धुभिः पितादिभिः । सुताननेन्दुपूर्णाङ्गा
पुत्रसखचन्द्रोद्गोतिगोतृसङ्गा । कार्त्तार्थं कतार्थतां पुत्रप्रसवेन सा-
फल्यमित्यर्थः । अन्यत् सुगमम् ।

(३) स इति । स राजा दशरथः वेदान् अध्यैष्ट अधीतवान्
त्रिदशान् तिस्रो दशा वाल्ययौवनप्रौढाख्या अवस्था येषां तान् देवा-
नित्यथेः त्रिदशा विकृधाः सुरा इत्यमरः । अवष्ट यज्ञेनार्चितवान्,
पितृन् अग्निष्वात्तादीन् अतासीत् आहुतर्पणादिभिः प्रीणितवान्,
बन्धून् पितृव्यभ्रातादीन् सममंस्त सम्यक् सानितवान्, षणां कामादीनां
वर्गः तं व्यजेष्ट विशेषेण जितवान् नीतो नीतिशास्त्रे अरंस्त रतवान्
यथानीति राजकार्यमद्राक्षोदित्यर्थः । किञ्चेति चार्थः अरीन्
यत्नून् समूलघातं मूलघातसहितं यथातथेत्यर्थः न्यबधीत् निहत-
वांश्च ।

पदांशेऽप्येतत्, यथा,—

“तन्नच्छ सिद्धौ कुरु देवकार्यम्” इत्यत्र ‘द्धौ’ इति
पदांशं दुष्टमाहुः ।

अनुचितार्थत्वं (४) पदगतं यथा,—

“तपस्त्रिभिर्वा सुचिरेण लभ्यते

प्रयत्नतः सत्रिभिरित्यते च वा ।

प्रयान्ति तामाशु गतिं यशस्विनी

रणाश्वमेधे पशुतामुपागताः” ॥ (५)

क्रमेणोदाहरणम्,—

“यो यः शस्त्रं विभक्तिं स्वभुजगुरुमदात् पाण्डवीनां चमूनां

यो यः पाञ्चालगोत्रे शिशुरधिकवया गर्भशय्यां गतो वा ।

यो यस्तत्कर्मसाक्षी चरति मयि रणे यश्च यश्च प्रतीपः

क्रोधान्धस्तस्य तस्य स्वयमिह जगतामन्तकस्यान्तकोऽहम्” ॥

(६) वेणी० ।

(४) अनुचितार्थत्वम् अयुक्तार्थत्वम् ।

(५) तपस्त्रिभिरिति । तपस्त्रिभिः चान्द्रायणादिव्रतपरायणैः
जनैः या गतिः सुचिरेण सुदीर्घकालेन अतिदीर्घकालिकतपोऽनुष्ठाने-
नेति भावः लभ्यते प्राप्यते, सत्रिभिः याज्ञिकैः जनैः प्रयत्नतः बद्ध-
प्रयासनेत्यर्थः या गतिः दृष्यते वाञ्छ्यते च, रणाश्वमेधे संप्राप्त-
रूपाश्वमेधयज्ञे पशुताम् उपागताः निहता इति भावः अतएव यश-
स्विनः कोर्त्तिशालिनो वीरा इति शेषः तां गतिं स्वर्गरूपाभिति
भावः आशु शीघ्रं प्रयान्ति गच्छन्ति ।

(६) य इति । अश्वत्थान् उक्तिरियम् । पाण्डवीनां चमूनां
सेनानां मध्ये यो यः स्वभुजगुरुमदात् निजवाङ्मवचदपात् शस्त्रं वि-

अत्र पशुपदं कातर्यं (७) मभिव्यनक्तीत्यनुचितार्थम् ।
वाक्यगतन्तूह्यम् ।

अत्र कुपितो वक्ता । उद्धतं वाचं यथा, --

“संवर्तप्रकटविवर्तसप्तपाथो-

नाथोर्मिव्यतिकरविभ्रमप्रचण्डः ।

निर्घोषः स्फुरति भृशं परःसहस्र-

व्यावलात्रबलगतागतास्रपाणाम्” ॥ (८) वीर० ।

रौद्रादिरसे तूदाहरणानि पूर्वमुक्तानि ।

भर्त्ति धरति, यः यः प्राञ्चालगोत्रे द्रुपदवंशे शिशुः बालकः, अधिक-
वयाः युवा प्रौढः स्यविरो वेलथः वा किंवा गर्भशय्यां गतः मातृ-
जठरस्थित इत्यर्थः, यो यः तस्य कर्मणः सत्पितृवधरूपस्येति भावः
साक्षी साक्षात् द्रष्टा दृष्टापि अग्निषेद्धेति भावः, तथा यश्च यश्च
सयि रथे संग्रामव्यापारे इत्यर्थः चरति तिष्ठति सति प्रतीपः
प्रतिकूलः सद्रुविरोधमाचरिष्यतीति भावः । क्रोधान्धोऽहं तस्य
तस्य स्वयं जगताम् अन्तकस्यापि यमस्यापीत्यर्थः अन्तकः संहर्त्ता
तान् सर्वान् नाशयिष्यामीत्यर्थः ।

(७) कातर्यमिति । कातर्यं दैन्यं पशवो हि परायत्तत्वात्
सततदोना एव, तादृशवीराणाम्पु स्नाधीनवृत्तित्वात् पशुत्वकीर्त्तनमती-
वायुक्तमिति भावः ।

(८) संवर्त्तेति । संवर्त्ते कल्पान्ते प्रकटो विषमः विवर्त्तः
परिणामो येषां तादृशाः ये सप्त पाथोनाथाः सागराः तेषाम्
जमीण्यां तरङ्गाणां ये व्यतिकराः सम्मेलनानि तेषां यो विभ्रमः वि-
लासः विषमगतिविशेषः तद्वत् प्रचण्डः दारुणः परःसहस्राणां
सहस्राधिकानां परःशताद्यास्ते येषां परा संख्या शताधिकैक्यमरः
व्यावलात्रां सञ्चरतां प्रवलात्रां गतानां रणकर्मणा निहृतानाम् अम-

ग्राम्यत्वं * (६) केवलं लोके एव स्थितत्वम् । पदगतं
यथा,—

किं रूपा शोणितस्यर्द्धी गल्लस्ते स्यन्दते भृशम् । (१०)

वाक्यगतं यथा,—

“ताम्बूलभृतगल्लोऽयं भक्षं जल्पति मानुषः ।

करोति खादनं पानं सदैव तु यथा तथा” ॥ (११)

* ग्राम्यत्वमधमोक्तिषु गुणः । यथा अभिज्ञानशकुन्तले—

जालु । ‘एत्तिके दाव एदस्स आगमे, अध मां मालेध
कुट्टेध वा’ । (१२) अत्र ‘मालेध’ ‘कुट्टेध’ इति पदे ग्राम्ये ।

तानां रणकर्माणि सत्त्वानाम् अस्त्रपाणां राक्षसानां राक्षसः कौण्डपः
क्रव्याद् क्रव्यादोऽस्त्रप आसव इत्यमरः निर्घोषः सिङ्घनादः भृशम्
अत्यर्थं स्फुरति प्रसरति ।

(६) ग्राम्यत्वमिति । काव्येषु अलौकिकचमत्कारिपदप्रयोग एव
युक्तः न तु सामान्यजनप्रयोज्यपदप्रयोगः, तथात्वे काव्यस्य चमत्-
कारित्वं नश्यतीति भावः ग्राम्यः ग्रामीणजनः सामान्यजन इत्यर्थः
तस्य भावः ग्राम्यत्वं येन प्रयोगेण ग्राम्यत्वं प्रतीयते तादृशप्रयोगो
ग्राम्यः स तु सहृदयानामप्रोत्तिकर इत्यस्य दोषत्वमिति भावः ।

(१०) किमिति । रूपा क्रोधेन शोणितस्यर्द्धी रुधिरनिभः ते तव
गल्लः कपोल इत्यर्थः भृशम् अत्यर्थं स्यन्दते स्फुरति । अत्र गल्लशब्दो
ग्राम्यः ।

(११) ताम्बूलेति । ताम्बूलभृतगल्लः ताम्बूलपूर्णवदन इत्यर्थः
अयं मानुषः भक्षं सुष्ठु इत्यर्थः जल्पति कथयति, किञ्चेति त्वर्थः
यथा तथा सदैव खादनं भोजनं पानञ्च करोति ।

(१२) एत्तिके इति । एतावांस्तावदेतस्मागमः, अथ मां मारयत
कुट्टयत वा ।

प्रथमे गल्लशब्दः, द्वितीये गल्लादयश्च शब्दाः, ग्राम्याः ।
 निहतार्थत्वम् * उभयार्थकस्य शब्दस्य अप्रसिद्धेऽर्थे
 प्रयोगः । यथा,— “यमुनाशम्बरमम्बरं व्यतानीत्” ।
 शम्बरशब्दो दैत्यविशेषे प्रसिद्धः, इह तु जले निह-
 तार्थः ।

† क्लिष्टत्वमर्थप्रतीतेर्व्यवहितत्वम् । पदगतं यथा,—
 ‘चौरोदजावसतिजन्मभुवः प्रसन्नाः’ ।

अत्र चौरोदजा लक्ष्मी स्तस्यावसतिः पद्मं तस्य जन्म-
 भुवो जलानीत्यतिकष्टे न बोधः ।

वाक्यगतं यथा,—

“धम्मिल्लस्य न कस्य प्रेक्ष्य निकामं कुरङ्गशावाच्याः ।

रज्यत्यपूर्वबन्धव्युत्पत्तेर्मानसं शोभाम्” ॥ (१३)

अत्र धम्मिल्लस्य । (केशबन्धस्य) शोभां प्रेक्ष्य कस्य
 मानसं न रज्यतीति सम्बन्धः क्लिष्टः ।

* श्लेषादौ एतन्न दोषः ।

† क्लिष्टत्वं विरुद्धमतिकारित्वम् षविसृष्टविधेयांश-
 भावस्य एतानि समासगतान्येव पददोषाः ।

(१३) धम्मिल्लस्येति । अपूर्वा बन्धे व्युत्पत्तिः ज्ञानं नैपुण्यमित्यर्थः
 यस्याः तथाभूतायाः कुरङ्गशावाच्याः मृगाच्याः धम्मिल्लस्य संयत-
 केशकलापस्य धम्मिल्लाः संयताः कचा इत्यमरः । शोभां सौन्दर्यं
 प्रेक्ष्य कस्य मानसं विकासम् अत्यर्थं न रज्यति ? न रक्तं भवति ?
 सर्वस्यैव रज्यतीत्यर्थः ।

अप्रतीतत्वमेकदेशशास्त्रान्तरमात्रप्रसिद्धत्वम् ‡ । यथा,—
 ‘योगेन दलिताश्रयः’ आश्रयशब्दो वासनार्थो योग-
 शास्त्रे एव प्रसिद्धः ।

विरुद्धमतिकारिता यथा,—

“उदारचरितो धीमान् सर्वलोकप्रियङ्करः ।

अकार्यमित्रमेकोऽसौ तस्य किं वर्णयामहे” ॥ (१४)

अत्र कार्यं विना मित्रमिति विवक्षितम्, अकार्येषु
 मित्रमिति विरुद्धा प्रतीतिः ।

अविमृष्टः प्राधान्येनानिर्दिष्टो विधेयांशो यत्र तस्य

‡ “गुणः स्यादप्रतीतत्वं ब्रह्मं चेद्वक्तृवाच्योः” ।

विश्वनाथः ।

यथा,—“त्वामामनन्ति प्रकृतिं पुरुषार्थप्रवर्त्तिनीम् ।

तद्दर्शिनमुदासीनं त्वामेव पुरुषं विदुः” ॥ (१५)

कुमारस० ।

अत्र वक्तृवाच्ययोस्तदर्थबोधान्न दोषः ।

(१४) उदार इति । असौ एकः उदारं महत् चरितं यस्य तादृशः
 धीमान् प्राज्ञः सर्वलोकानां प्रियङ्करः प्रियकारी अकार्यमित् तस्य
 किं वर्णयामहे ? न किमपीति भावः ।

(१५) त्वामिति । ब्रह्माणं प्रति देवानां स्तुतिरियम् । हे देव !
 त्वं पुरुषार्थप्रवर्त्तिनीं भोगापवर्गसाधवित्नीं प्रकृतिं मूलकारणं तथा
 त्वामेव तस्याः प्रकृतेः दर्शिनं उदारम् अर्थात्तत्त्वमेवेति शेषः स्याध्य-
 ज्ञेय प्रकृतिः स्तुयते सचराचरमिति अर्जुनं प्रति भगवदुक्तेः । उदा-
 सीनम् असंस्पृष्टं पुरुषम् आत्मानं विदुः जानन्ति बुधा इति शेषः ।

भावः प्रविष्टविधेयांशभावः, अयं विधेयाविमर्श इति
च कथ्यते । यथा,—

“वपुर्विरूपाक्षमलज्जन्मता

दिगम्बरत्वेन निवेदितं वसु ।

वरेषु यद् बालसृगाक्षि ! मृग्यते

तदास्ति किं व्यस्तमपि त्रिलोचने” ॥ (१६) कुमारस० ।

अत्र अलक्ष्यं विधेयं तस्य च समासे गुणीभावादप्रा-
धान्येन निर्देशः । यथा वा,—

“अमुक्ता भवता नाथ ! मुहूर्तमपि सा पुरा” ।

अत्र नञो विधेयत्वमेवोचितम्, यथा निम्ने श्लोके,—

“नवजलधरः सञ्जडोऽयं, न हृत्तनिशाचरः ?

सुरधनुरिदं दूराकृष्टं, न तस्य शरासनम् ? ।

(१६) वपुरिति । पार्वतीं प्रति जटिलरूपिणो हरस्योक्ति-
रियम् । हे बालसृगाक्षि ! सृगगायकनयने ! वपुः शरीरं शम्भो-
रिति शेषः विरूपाक्षि विषमाक्षि अक्षीणि यस्य तादृशं त्रिनेत्रं
कुत्सितमिति भावः, अलक्ष्यं जन्म यस्य तथोक्तः, तस्य भावः
अलक्ष्यजन्मता वकुलीनत्वमिति भावः, तथा दिगम्बरत्वेन नग्नत्वेन
वसु धनं निवेदितं सूचितं यस्य धनमस्ति स कदापि न नग्नस्तिष्ठति,
अस्य तु तद्भावाद् दिगम्बरत्वमिति भावः अतः वरेषु उपयन्तृषु यत्
रूपादिकमित्यर्थः । तदुक्तम्, कन्या वरयते रूपं माता वित्तं पिता
शुतम् । वाच्यवाः कुलमिच्छन्ति निष्ठाक्षमितरे जनाः ॥ इति । मृग्यते
अन्विष्यते त्रिलोचने हरे तत् व्यस्तमपि एकमपीत्यर्थः समस्तं दूरा-
पास्तमिति भावः किम् अस्ति ? नैवेत्यर्थः ।

(१७) नवेति । उर्वशीदिरहिण्यः पुरुरवस उक्तिरियम् । अयं
नवजलधरः नूतनमेघः सञ्जडः सञ्जदितः, हृत्तनासौ निशाचरश्चेति स

अयमपि पटुर्धारासारी, न वाणपरम्परा ?
कनकनिकषस्निग्धा, विद्युत्, प्रिया न ममोर्वशी" ? ॥

(१७) (विक्रमो०)

“जुगोपात्मानमत्रस्ती भेजे धम्ममनातुरः ।

अगृध्नुराददे सोऽर्थमसक्तः सुखमन्वभूत्” ॥ (१८)

(रघुवंशम्)

इत्यत्र तु अत्रस्तताद्यनुवादेनात्मगोपनाद्येव विधेय-
मिति न दोषः । वाक्यगतो यथा,—

“न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयस्तत्राप्यसौ तापसः

सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसकुलं जीवत्यहो रावणः ।

धिक् ! धिक् ! शक्रजितं प्रबोधितवता किं कुम्भकर्णेन वा
स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनवृथोच्छूनैः किमेभिर्भुंजैः” ॥ (१९)

न, इदं दूराकष्टं दूरात् आकष्टं सुरधनुः शक्रकार्मुकं, तस्य निशा-
चरस्य शरासनं धनुः न, अयमपि पटुः प्रबलः धारासारः घृष्ट-
धारापातः, न वाणपरम्परा शरवर्षणधारा, कनकस्य निकषः कषण-
रेखा तद्वत् स्निग्धा स्फुरन्ती विद्युत् इयमिति शेषः, नमः प्रिया
उर्वशी न ।

(१८) जुगोमेति । स राजा दिक्षोपः अत्रस्तः त्रासरहितः
सन् आत्मानं जुगोप ररञ्ज अनातुरः अक्लान्तः सन् धर्मं भेजे सिधेवे
अगृध्नुः अलोलुपः सन् अर्थं धनं राजस्वरूपमित्यर्थः आददे जयाह
प्रजाभ्य इति शेषः । तथा असक्तः आसक्तिरहितः सन् सुखम्
कन्वभूत् बुभुजे ।

(१९) न्यक्कार इति । रावणस्योक्तिरियम् । मे मम अरयः
शत्रव इति यत्, अयमेव न्यक्कारः निकारः अवसाननमित्यर्थः तत्रापि
अरिष्वपि असौ अरिः राम इति भावः तापसः तपस्वी जुह इति

“अनुवाचमनुक्तेव न विधेयमुदीरयेद्” इत्युक्ते सहे-
 श्यस्य प्रथमं ततो विधेयस्य निर्देशो युक्तः । अत्र, न्यकारस्य
 विधेयत्वे विवक्षितेऽपि प्रथमं निर्देशात् न तथा प्रतीतिः ।
 रचना च पदद्वयस्य विपरीतेति वाक्यदोषः ।

यथा वा,—

“आनन्दयति ते नेत्रे योऽसौ सुभ्रु ! समागतः” ॥

अत्र, ‘असौ’ इत्यस्य विधेयत्वमेव भवितुं युक्तं, तच्च
 यच्छब्द निकटस्थतया अनुवाच्यत्वप्रतीतिस्तत् ।

सन्दिग्धत्वं * यथा,—

* ‘सन्दिग्धत्वं गुणो व्याजसुतिपर्यवसायि चेत्’ ।

(विश्वनाथः)

व्याजसुतिश्च अलङ्कारप्रस्तावे वक्ष्यमाणा । यथा,—

“पृथुकार्तं स्वरपात्रं भूषितनिःशेषपरिजनं देव ! ।

विलसत्करेणुगहनं सम्प्रति समनावयोः सदनम्” ॥

भावः, सोऽपि तापसोऽपि अत्रैव ब्रह्मायामेव व्याग्येति शेषः
 राजसकुलं निवृन्ति नाशयति अहो ! आश्चर्यं रावणो जीवति
 एतावति निकारे रावणस्य जीवन साश्चर्यमित्यर्थः । शक्रजितम्
 इन्द्रजितं धिक् ! धिक् ! निन्दामीत्यर्थं धिक् निर्भर्त्सन निन्दयो-
 रित्यमरः । इन्द्रजयिनापि तापसात् पराजयो ब्रह्म इति भावः ।
 प्रबोधितवता जागरितेन कुम्भकर्णेन वा किम् ? न किमपि कार्यं
 साधितमित्यर्थः । तथा स्वर्ग एव ग्रामटिका जुहो ग्रामः तस्या
 विलुण्ठनेन यथा उच्छूनाः उद्धृताः तैः एभिः सदीवैरित्यर्थं भुजैः
 बालभिः विंशतिसंख्यकैरिति भावः किम् ? न किमपि प्रयोजन-
 मित्यर्थः ।

“आशीःपरम्परां (२०) वन्द्यां कर्णे कृत्वा कृपां कुरु” ।

अत्र, वन्द्यामिति वन्दीभूतायां उत वन्दनीयामिति सन्देहः ।

वाक्यमात्रगतान् दोषानाह,—

वर्णानां प्रतिकूलत्वं सन्धौ विश्लेषकष्टते ।

अधिकान्यून कथितपदताऽक्रमता तथा ॥

भग्नप्रक्रमता ख्यातिहतता सङ्करोऽपि च ।

गर्वभितत्वं तथा काव्ये दोषाः स्युर्वाक्यमात्रगाः ॥

वर्णानां रसानुगुणत्वं वक्ष्यते तद्वैपरीत्यं प्रतिकूलत्वम् । यथा, ‘कृतमनुमतम्’ (२२४०) इत्यादि पूर्वमुक्तम् । अत्र हि गाढबन्धत्वं दीर्घसमासत्वञ्च उचितम् । तद्वैपरीत्य-करणात् दोषः ।

सन्धौ विश्लेषः द्विविधः, व्याकरणलक्षणानुसारेण कृतः, अनुशासनमुल्लङ्घ्य स्वेच्छया कृतश्च । पूर्वः असङ्ग-देव दोषः, द्वितीयस्तु सङ्गदपि । आद्यो यथा,—

“दलिते उत्पले एते अक्षिणी अमलाङ्गि ! ते” ।

द्वितीयो यथा,—

“वासवाशामुखे भाति इन्दुश्चन्दनविन्दुवत्” ।

सन्धौ कष्टता श्रुतिदुःखावहत्वम् । यथा,

(२०) आशीःपरम्पराम् आशिषाम् षड्वम् ।

“उर्वसावन्न तर्वाली मर्वन्ते चार्वावस्थितिः ।

नातर्जुं युज्यते गन्तुं शिरो नमय तन्मनाक्” ॥ (२१)

अधिकपदता * यथा—

“सदाशिवं नौमि पिनाकपाणिम्” इत्यत्र ‘पिनाक-
पाणिम्’ इति विशेषणमधिकम् ।

* ‘गुणः काव्यधिकं पदम्’ यथा,—

“आचरति दुर्जनो यत् सहसा मनसोऽप्यगोचरानर्थान् ।

तन्न न जाने जाने स्मृतिं मनः किन्तु नैव निष्ठुरताम्” ॥

(२२)

अत्र न न जाने इत्ययोगव्यवच्छेदकम्, द्वितीयं जाने
इति अन्वययोगव्यवच्छेदकम् (२३) इति वैचित्र्यातिशयः ।

“सम्भ्रमे विस्मये हर्षे विषादेऽप्यधिकं पदम्” । गुण
एव । सम्भ्रमे यथा,—

(२१) उर्वसाविति । अत्र मर्वन्ते सरोरन्ते अर्वा उर्वो मर्वती
चार्वावस्थितिः सुष्ठुस्थिता तर्वाली तद्धृषां त्रेषो अत्र षड्जु सरलं
यथा तथा गन्तुं न युज्यते न शक्यते इत्यर्थः, तत् तस्मात् मनाक्
इष्टत् शिरः मस्तकं नमय नतं कुरु ॥

(२२) आचरतीति । दुर्जनः सहसा मनसोऽपि अगोचरान्
अर्थान् यत् आचरति अस्मृतिवति तत् न जाने न जाने किन्तु मनः
निष्ठुरतां नैव स्मृतिं । दुर्जनस्य दौर्जन्यं ज्ञायते परं तस्य अविदं
कर्तुं नोच्छामीति भावः ।

(२३) अयोगव्यवच्छेदकम् अयोगस्य ज्ञानाभावस्येत्यर्थः व्यवच्छेदकं
निराकारकं तथाच दुर्जनस्य दौर्शील्यं मे ज्ञातमस्तीति भावः,

“कुर्यां हरस्यापि पिनाकपाणेः” इत्यत्र तु अतिदु-
ष्प्रभृषत्वसूचनाय ‘पिनाकपाणेः’ इति विशेषणं युक्तमेव ।

“अर्घ्यमर्घ्यमिति वादिनं नृपं सोऽनवेक्ष्य भरतायजो यतः ।
क्षत्रकोपदहनाचिषं ततः सन्दधे दृशमुदग्रतारकाम्” ॥ (२४)
रघुवंशम् ।

विस्मये हर्षे च यथा,—

“दृष्ट्वा स्फोटोऽभवदलिरसौ लेख्यपद्मं विशालं
चित्त्रं ! चित्रं ! किमिति ! किमिति ! व्याहरन् निष्पपात ।
नास्मिन् गन्धो न च मधुकणो नास्ति तत्सौकुमार्यं
घूर्णन् मूर्ध्ना वत ! नतगिरा ब्रीडया निर्जगाम” ॥ (२५)

जाने इति अन्वययोगस्य अपरज्ञानस्य व्यवच्छेदकं तथाच अहमेव जाने
नान्य इति अथवा अहं यथा जाने तथा नान्य इति च भावः ।

(२४) अर्घ्यमिति । भग्नहरकाचं कं कृतसीतोद्वाहं पुत्रं रामं
गृहीत्वा अयोध्याभिसुखं गच्छतो दशरथस्य परशुरामं सक्रोधमागतं
वीक्ष्य ससन्नसौक्तिरिवम् । सः परशुरामः अर्घ्ये स्म अर्घ्ये गृह्णा-
णति शेषः इति वादिनं नृपम् अन्वेक्ष्य अगणयित्वा इत्यर्थः यतः
यस्यां दिशि भरतायजः रामः तिष्ठतीति शेषः ततः तस्यां दिशि
क्षत्रकोपदहनाचिषं क्षत्रियान् प्रति कोपान्बुद्धिं तारकाम् उदग्रतारकाम्
भयङ्करतारकाम् दृशं चक्षुः सन्दधे पातवासास ।

(२५) दृष्ट्वा इति । असौ अलिङ्ग्यमरः विशालं महत् लेख्यपद्मं
चित्तितकमलं दृष्ट्वा स्फोटः आनन्दोत्फुल्ल इत्यर्थः अभवत् । चित्रं
चित्तम् आश्चर्यमाश्चर्यं किमिति किमिति व्याहरन् ब्रुवन् निष्पपात
तस्मिन् लेख्यपद्मे इति शेषः । अस्मिन् लेख्यपद्मे न गन्धः न च
मधुकणः सकरन्दविन्दुः, न तस्य सौकुमार्यं सुकोमलत्वम् अस्ति

न्यूनपदता * यथा, “तथाभूतां दृष्ट्वा” इत्यादी
(१५ पृ०) पूर्वमुक्ते ।

अत्र, ‘अस्माभिः’ इति ‘खिन्ने’ इत्यस्मात् पूर्वम् ‘इत्यम्,’
इति च पदं न्यूनम् ।

कथितपदत्वं * यथा,—

“प्रियं चेद्भरतस्यैतद्रामप्रव्राजनं भवेत् ।

मास्म मे भरतः कार्षीत् प्रेतकृत्यं कदाचन” ॥ (२६)

(रामायणे)

विषादे यथा,—

“रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातं

भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पद्मजालम् ।

इत्थं विचिन्तयति कोपगते द्विरेफे

हा ! हन्त ! हन्त ! नलिनीं गज उज्जहार” ॥ (२७)

* “उक्तावानन्दमन्नादेः स्यान्न्यूनपदता गुणः” ।

यत्र तत्पदप्रयोग एव न युक्तस्तत्र अधिकपदत्वम्,

इति दृष्टेति शेषः वत खेदे मृद्वीं घूर्णन् व्रीडया लज्जया नतशिराः
अवनतमुखः सन् निर्जगाम ।

(२६) प्रियमिति । चेत् यदि एतद् रामस्य प्रव्राजनं वनप्रेषणं
भरतस्य प्रियं भवेत् तदा भरतः कदाचन मे प्रेतकृत्यं मास्म कार्षीत्
न करोत् ।

(२७) रात्रिरिति । रात्रिः गमिष्यति प्रभाता भविष्यतीत्यर्थः
सुप्रभातं भविष्यति, भास्वान् सूर्यः उदेष्यति उत्थास्यति पद्मजालं
कमलसङ्घः हसिष्यति विकसिष्यति, कोपगते कमलकुड्मलस्थिते द्विरेफे
समरे इत्थं विचिन्तयति मति हा हन्त ! हन्त ! विषादस्तत्र
कमन्यवसेतुत्वयं गजः नलिनीं उज्जहार उदपाटयत् ।

अत्र भरत इति पुनः कथितं, सर्वनाम्नैव अस्य परा-
मर्शो युक्तः,—“मास्म मेऽसौ सुत” इत्यदुष्टम् ।

अक्रमत्वं, अविद्यमानः क्रमः पदस्थितिक्रमो यत्र तत्
अक्रमम् तस्य भावः । यथा,—

“द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां

समागमप्रार्थनया पिनाकिनः ।

कला च सा कान्तिमती कलावत-

स्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी” ॥ (२८) कुमारस० ।

यत्र तु पर्यायान्तरेण सर्वनाम्ना वा तत्प्रयोगो युक्तस्तत्र
कथितपदत्वम् ।

विहितस्य अनुवायत्वे कथितपदत्वं गुणः । यथा,—

“उदेति सविता ताम्रस्ताम्रएवास्तमेति च ।

सम्पत्तौ च विपत्तौ च महतामेकरूपता” ॥ (२९)

अत्र ताम्रपदस्य कथितपदत्वेऽपि उत्तरवाक्येऽनु-
वायत्वाच्चदोषः । यथा वा,—

“जितेन्द्रियत्वं विनयस्य कारणं गुणप्रकर्षो विनयादवाप्यते ।

गुणप्रकर्षेण जनोऽनुरज्यते जनानुरागप्रभवा हि सम्पदः” ॥

(२८) द्वयमिति । पार्वतीं प्रति जटिलरूपिणो हरस्योक्ति-
रियम् । कलावतः चन्द्रस्य सा प्रसिद्धा कान्तिमती लावण्यपूर्णं
कला रेखा यस्य लोकस्य जगतः नेत्रकौमुदी नयनानन्ददायिनीत्यर्थः
तच्च एतत् द्वयं सम्प्रति पिनाकिनः शम्भोः समागमप्रार्थनया
सङ्गामिलाषेण शोचनीयतां गतम् ।

(२९) उदेतीति । सविता सूर्यः ताम्रः रक्तः सन् उदेति
उद्गच्छति, ताम्र एव रक्त एव अस्तमेति च अस्तं गच्छति च ।

अत्र त्वम् इत्यनन्तरं चकारो युक्तः ।

भग्नप्रक्रमता, भग्नः प्रक्रमः उद्देशानुगुणः प्रस्तावो
यस्मिन् तद् भग्नप्रक्रमम् तस्य भावः । यथा,—

“यशोऽधिगन्तुं सुखलिप्सया वा मनुष्यसंख्यामतिवर्तितुं वा ।
निरुक्त कानामभियोगभाजां समुत्सुकेवाङ्मुपैति लक्ष्मीः” ॥

(३०) (किराताजु०)

अत्र सुखलिप्सयेत्यत्र ‘सुखमीहितुम् वा’ इति तुम-
न्तप्रयोग एव युक्तः ।

ख्यातिहतता प्रसिद्धित्यागः । मेघादीनां गर्जिता-
द्येव प्रसिद्धं तदन्यथावर्णने ख्यातिहतत्वम् ।

वाक्यान्तरपदानां वाक्यान्तरेऽनुप्रवेशः सङ्करः । यथा,—
“किमिति न पश्यसि कोपं पादगतं बहुगुणमाद्रियस्वैनम्
ननु सुञ्च हृदयनाथं सद्यं मनसस्तमोरूपम्” ॥

अत्र, पादगतं बहुगुणं हृदयनाथं किमिति न पश्यसि
इमं सद्यमाद्रियस्व मनसस्तमोरूपं कोपं सुञ्चेत्यन्वयः ।
एकवाक्यगतत्वे तु क्लिष्टत्वमित्यस्माद्भेदः ।

तथाहि सहतां जनानां सम्पत्तौ सम्पदि च विपत्तौ विपदि च
एकरूपता तुल्यता सम्पदि विपदि च सहान्तः सनभावो नैवावतिष्ठन्ते
इति भावः ।

(३१) यश इति । यशः कीर्तिं अधिगन्तुं लब्धुं सुखं लिप्सया
लाभेच्छया वा मनुष्यसङ्घातं मनुष्यगणनाम् अतिवर्तितुम् अतिक्रमितुम्
असाधुर्गो क्रियां कर्तुमिति यावत् वा निरुत्सुकानां निरुद्वेगानाम्
अभियोगभाजाम् उद्वेगिनां निरुद्वेगेनोद्वेगयोगमातन्त्रतामित्यर्थः
सिद्धिः समुत्सुकेव समुत्कण्ठता कामिनीयं चङ्कं क्रोडं उपैति
स्वागच्छति ।

वाक्यान्तरे वाक्यान्तरप्रवेशो गर्भभित्तत्वम् * । यथा,—

“परापकारनिरतैर्दुर्जनैः सह सङ्गतिः ।

कर्त्तव्यः साधुसंसर्गो न विधेया कदाचन” ॥

अथ तृतीयपादवाक्यं वाक्यान्तरमध्ये प्रविष्टम् ।

अर्थदोषानाह,—

“दुष्कृमग्राभ्यकष्टत्वं व्याहतत्वमहेतुता ।

अनवीकृतता पौनरुक्तं ख्यातिविरुद्धता ॥

* गर्भित्वं कचिदगुणः यथा,—

“दिङ्मातङ्गवटाविभक्तचतुराघाटा मही साध्यते

सिद्धा सापि वदन्त एव हि वयं रोमाञ्चिताः पश्यत ।

विप्राय प्रतिपाद्यते किमपरं रामाय तस्मै नमः

यस्मात् प्रादुरभूत् कथाङ्गुतमिदं यत्तैव चास्तं गतम्” ॥ (३१)

अत्र “वदन्त एव हि” इत्यादिवाक्यं वाक्यान्तरमध्ये प्रविष्टं चमत्कारातिशयं पुष्पाति ।

(३१) दिङ्मातङ्गेति । सर्वां पृथिवीं जित्वा विप्रसात् कृतवन् परशुरामं दृष्ट्वा जनानामुक्तिः । दिङ्मातङ्गानां दिग्गजानां वटाभिः समूहेः चतुष्टयैरिति भावः विभक्ता विभज्य गृहीताः चतस्रः आघाटाः शीमानः यस्याः तादृशी मही पृथ्वी साध्यते उपाज्यते महामहिमशालिभिरिति शेषः सा मही सिद्धापि विप्राय प्रतिपाद्यते समर्प्यते वदन्त एव वयं रोमाञ्चिताः सङ्घातरोमहर्षाः जाता इति शेषः पश्यत स्वबोक्तव्यत्वं अपरं किम् वक्तव्यमिति शेषः, यस्मात् रामात् इदं कथाङ्गुतम् सङ्गुतकथेत्यर्थः प्रादुरभूत् जाता, यत्तैव च रामे अस्तं गतं तस्मै रामाय नमः ।

अनुवादो विधेऽवमर्थदोषाः प्रकीर्त्तिताः ॥

दुष्कृतता दुष्टोक्तिरुच इति यावत् क्रमो वचनक्रमो यस्मिन् स दुष्क्रमः, यथा, वसन्तादिवर्णने प्रथमं प्रबालो-
द्गमस्य ततः कुसुमोत्पत्तेरनन्तरं पुष्पेषु शिलोमुखानामा-
पतनमिति यथाक्रममेवैतेषामाविष्करणमुचितम्, विशि-
ष्टहेतुं विना ततोऽन्यथावर्णने दुष्क्रमतादोषः, एवमन्य-
नापि ।

ग्राम्यत्वं * यथा,—

तान्मृङ्गारतुल्योऽयमर्को मज्जति वारिधौ । (१२)

कष्टत्वमर्थप्रतीतेर्व्यवहितत्वम् । यथा,—

“सदा मध्ये यासामियममृतनिष्यन्दसरसा

सरस्वत्युद्गमा वहति बहुमार्गा परिमलम् ।

* ग्राम्यत्वमधमोक्तिषु गुणः, यथा,—

“एसो ससहरविम्बो दीपइ है प्रह्वीनपिण्डोव्व ।

एदेअ रस्मिसमोहा पटन्ति आशासु दुग्धधाराव्व” ॥

“एष शशधरविम्बो दृश्यते हैयङ्ग्वीनपिण्ड इव ।

एते च रस्मिसमूहाः पतन्ति आशासु दुग्धधारा इव” ॥

(३३) स० ।

इयं हि विदूषकोक्तिः ।

(१२) तान्मेति । तान्मृङ्गारेण रक्तवर्णजलपात्रविशेषेण तुल्यः
अर्कः स्वर्यः वारिधौ मज्जते मिसज्जति अस्तमेतीत्यर्थः ।

(३३) एदेअ इति । एते च रस्मिसमूहाः किरणसङ्घाः आशासु
दिक्षु दुग्धधारा इव पतन्ति ।

प्रसादं ता एता घनपरिचिताः केन सहतां

महाकाव्यव्योम्नि स्फुरितमधुरा यान्तु रुचयः" ॥ (३४)

अत्र वासां कविरुचीनां मध्ये सुकुमारचित्रमध्यमा-
ल्लकविमार्गा भारती चमत्कारं वहति, ता गम्भीरकाव्य-
परिचिताः कथमितरकाव्यवत् प्रसन्ना भवन्तु इत्येकोऽर्थः ।
वासामादित्यप्रभाणां मध्ये त्रिप्रथगा वहति, ता मेघ-
परिचिताः कथं प्रसन्ना भवन्तीति द्वितीयोऽर्थः । अर्थद्वय-
मपि नितरां दुर्बोधम् । शब्दानां परिवर्त्तनेऽपि कष्ट-
तायास्तादवस्थादयमर्थदोषः ।

कस्यचित् प्रागुक्तार्थमपकर्षे वाभिधाय पञ्चात्तदन्यथा-
प्रतिपादनं व्याहतत्वम् । यथा,—

(३४) सदेति । अमृतवत् निष्यन्दः प्रकाश इति यावत् तेन
सरसो रसवती बहुभार्गा नानारीतिसङ्कुटिता उद्भासा प्रौढा इयं
सरस्वती वाणी वासां रुचीनां मध्ये सदा परिमलं सौरभं वहति
रुचीनां खदते इति भावः । अन्यत्र बहुभार्गा त्रिप्रथगेत्यर्थः उद्भासा
उत्कटवेगा अमृतनिष्यन्दिनी सरस्वती सन्दाकिनीत्यर्थः वासां सौरोष्णां
रुचीनां किरणानां मध्ये सदा परिमलं देवाङ्गनानां विमर्दजनित-
गन्धं वहति, ता एता सहतां स्फुरितेन सहजबोधेनेति भावः
मधुरा मधुरास्वादवत्यः रुचयः अभिलाषाः महाकाव्यं दुर्बोधकाव्यं
व्योमेव आकाशसदं तस्मिन् घनपरिचिताः अतिपरिचिता अपिरला-
भ्याहार्यः केन कथं प्रसादं प्रसन्नतां यान्तु ? न कथमपि प्रसन्ना
भवन्तीत्यर्थः अन्यत्र ता एता सहतां भास्वतामित्यर्थः स्फुरितेन
विकासेन मधुरा मनोहारिण्यः रुचयः प्रभाः महाकाव्यमिव व्योम
तस्मिन् घनपरिचिताः मेघाच्छादिता इति यावत् केन कथं प्रसादं
यान्तु न कथमपि प्रसन्ना भवन्तीत्यर्थः ।

“हरन्ति हृदयं यूनां न नवेन्दुकलादयः ।

वीक्ष्यते यैरियं तन्वी लोकलोचनचन्द्रिका” ॥ (३५)

अत्र येषामिन्दुकला नानन्दहेतुस्तेषामेवानन्दाय
तन्वां चन्द्रिकात्वारोपः ।

अहेतुता (निर्हेतुता) * हेतोरवचनम्, यथा,—

* “निर्हेतुता तु ख्यातेऽर्थे दोषतां नैव गच्छति” ।

यथा, “चन्द्रं गता पद्मगुणान् भुङ्क्ते

पद्माश्रिता चान्द्रमसीमभिख्याम् ।

उमामुखन्तु प्रतिपद्य लोला

द्विसंश्रयां प्रीतिमवाप लक्ष्मीः” ॥ (३६) कुमार०

अत्र रात्रौ पद्मस्य सङ्कोचः, दिवा चन्द्रमसश्च निष्प्र-
भत्वं लोकप्रसिद्धमिति ‘न भुङ्क्ते’ इति हेतुं नापेक्षते ।

(३५) हरन्तीति । येः युवभिः लोकानां लोचनचन्द्रिका
नवनानन्दिनीति यावत् इयं तन्वी कशाङ्गी वीक्ष्यते अवलोक्यते
नवेन्दुकलादयः अभिनवाश्चन्द्रकलाप्रभृतयः तेषां यूनां हृदयं न
हरन्ति नाकर्षन्ति ।

(३६) चन्द्रमिति । पार्वत्या मुखवर्णनमिदम् । लोला चपला
लक्ष्मीः चन्द्रं गता रात्राविति भावः पद्मगुणान् कमलस्थितिजनित-
सुखानीति यावत् न भुङ्क्ते नास्वादयति, पद्माश्रिता दिवसे इति भावः
अङ्गप्रभोजं विवसतीति कविसमयप्रसिद्धेः । चान्द्रमसीं चान्द्रीम्
अभिख्यां शोभां अभिख्या नाम शोभयोरित्यमरः । न भुङ्क्ते । त
किन्तु उमायाः पार्वत्या मुखं प्रतिपद्य प्राप्य द्विसंश्रयां चन्द्रकमल-
वासजनितामिति भावः प्रीतिम् आनन्दम् अवाप प्राप । पार्वत्या
वदनं चन्द्रः कमले च नेत्रे तेषाञ्च दिवारात्रं तत्त्वविकाशित्वादिति
भावः ।

“गृहीतं येनासीः परपरिभवान्नोचितमपि
प्रभावाद्यस्याभून्न खलु तव कश्चिन्न विषयः ।
परित्यक्तं तेन त्वमसि सुतशोकान्न तु भयाद्-
विमोक्ष्ये शस्त्र ! त्वामहमपि ततः स्वस्ति भवते” ॥ (३७)
(विणीसंहारः)

अत्र द्वितीयशस्त्रमोचने हेतुर्नीत इति निर्हेतुत्वम् ।

अनवीकृतत्वं * यथा,—

“प्राप्ताः श्रियः सकलकामदुष्ठा, स्ततः किं ?
दत्तं पदं शिरसि विद्विषतां, ततः किम् ? ।
सन्तर्पिताः प्रणयिनी विभवै, स्ततः किं ?
कल्पं स्थितं तनुभृतां तनुभि, स्ततः किम्” ? ॥ (३८)

* भङ्गान्तरेण निर्देश्यत्वं नवीकृतत्वम् । ‘किं तत’
इत्यत्र ‘किं तस्माद्’ इत्यादिरूपेण शब्दपरिवर्तनेऽपि
उत्कर्षाभावादनवीकृतत्वमेवेति कथितपदत्वाद्भेदः ।

(३७) गृहीतमिति । अश्वत्थान्न उक्तिरियं हे शस्त्र ! येन मत्पि-
त्रेति शेषः त्वं परपरिभवात् शत्रुभिः परिभवभयादित्यर्थः नोचितम्
अनुचितग्रहणमपीति यावत् ब्राह्मणस्य शस्त्रग्रहणनिषेधादिति भावः
गृहीतम् अवलम्बितम् आसीः, यस्य मत्पित्रः प्रभावात् कश्चिदपि
जन इति शेषः तव न विषयः अपि सर्व एव जनस्तव मोचरीभूत
इत्यर्थः द्रोणस्य सर्वजयित्वादिति भावः । तेन मम पित्रा सुतशो-
कात् न तु भयात् त्वं परित्यक्तम् असि अहमपि त्वां विमोक्ष्ये
त्वम्यामि ततः अतः परमित्यर्थः भवते तुभ्यं स्वस्ति शुभं भूयादिति
शेषः ।

(३८) प्राप्ता इति कस्यचिद्विरागिण उक्तिरियम् । सकलकाम-

अत्र ततः किमिति न नवीकृतम् ।

पौनरुक्तं यथा,—

“अस्त्वज्ज्वालावलीदप्रतिबलजलधेरन्तरौर्वायमाणे
सेनानाथे स्थितेऽस्मिन् सम पितरि गुरौ सर्वधन्वोश्चराणाम् ।
कर्णालं सश्रमेण व्रज कृप ! समरं मुञ्च हार्दिक्य ! शङ्कां
ताते चापद्वितीये वहति रणधुरां को भयस्यावकाशः” ॥

(३८) (वेणीसंहार०)

अत्र चतुर्थपादवाक्यार्थः पुनरुक्तः ।

दुषाः सर्वसनोरयपूरण्यः श्रियः सम्पदः प्राप्ताः जनैरिति शेषः
सर्वत्र योज्यः । ततः किम् ? न किमपीत्यर्थः, विविधतां वैरिणां
शिरसि पटं दत्तं वैरिणो निजिता इति भावः ततः किम् ? ।
विभवैः सम्पदभिः प्रणयिनः बन्धवः सन्तर्पिताः प्रीणिताः ततः
किम् ? । तनुभृतां प्राणिनां तनुभिः शरीरैः कल्पं प्रलयकालं
यावदित्यर्थः स्थितं प्राणिनः प्रलयपर्यन्तजीविन इत्यर्थः ततः
किम् ? । सर्वमेवालोकससारञ्च जगदिति भावः ।

(३८) अस्त्विति । अस्त्राणां ज्वालाभिः अजलीदः अस्तः यः
प्रतिबलजलधिः प्रतिपन्नसैः कनागरः तस्य अलः अथ्यन्तरे और्वाय-
माणे बह्वानले इवाचरति सर्वधन्वोश्चराणां सर्वेषां महाधनुर्धराणां
गुरौ आचार्य्यं सेनानाथे सम पितरि अस्मिन् द्रोणे इति शेषः स्थिते
वर्तमाने हे कर्ण ! सश्रमेण भवेन अलं भयं सा कुरु इत्यर्थः हे
कृप ! समरं संयासमेवं व्रज गच्छ, हे हार्दिक्य हृदिकनन्दन !
कतवर्षस्त्रित्यर्थः शङ्कां तासं मुञ्च त्यज, चापद्वितीये धनुर्धरे ताते
पितरि रणधुरां संयासभारं वहति सति भयस्य अवकाशः अवसरः
कः ? नैव भयसम्भवं इत्यर्थः ।

ख्यातिविरुद्धता * यथा,—

* “कवीनां समये ख्याते गुणः ख्यातविरुद्धता” ।

(विश्वनाथः ।)

कविसमयख्यातानि च दर्पणे,—

मालिन्यं व्योम्नि पापे यशसि धवलता वर्ण्यते हासकीर्त्यो
रक्तौ च क्रोधरागौ सरिदुदधिगतं पङ्कजेन्दोवरादि ।

तोयाधारेऽखिलेऽपि प्रसरति च मरालादिकः पक्षिसंघो
ज्योत्स्ना पेया चकोरेजलधरदिवसे मानसं यान्ति हंसाः ॥

पादाघातादग्नीकं विकसति वक्रुलं योषितामास्यमयै-

र्यूनामङ्गेषु हाराः स्फुटति च हृदयं विप्रयोगस्य तापैः ।

मौर्वी रोलम्बमाला धनुरथ विशिखाः कौसुमाः पुष्पकेतो-
भिन्नं स्यादस्य वाणैर्युवजनहृदयं स्त्रीकटाक्षेण तद्वत् ॥

अङ्गुलीजं निशायां विकसति कुसुदं चन्द्रिका शुक्लपक्षे
मेघध्वानेषु नृत्यं भवति च शिखिनां नाप्यग्नीके फलं स्यात् ।

न स्याज्जाती वसन्ति न च कुसुमफले गन्धसारद्रुमाणा-

मित्याद्युच्चेयमन्यत् कविसमयगतं सत्कवीनां प्रबन्धे” ॥ (४०)

(४०) मालिन्यमिति । व्योम्नि आकाशे पापे च मालिन्यं
यशसि हासकीर्त्योश्च धवलता वर्ण्यते आकाशं पापञ्च लक्षणवर्णं यशः
कीर्तिं हासञ्च श्वेतवर्णौ वर्णनीय इत्यर्थः क्रोधरागौ कोपाहुरागौ
रक्तौ रक्तवर्णौ वर्ण्यते इति शेषः । पङ्कजेन्दोवरादि सरिदुदधि
गतं नदीसमुद्रगतं वर्ण्यते इति शेषः । रोलम्बमाला अमरवृक्षो ।
मौर्वी वृद्धा । विशिखाः शराः । पुष्पकेतोः कामस्य । चन्द्रिका
शुक्लपक्षे वर्णनीयेति शेषः शिखिनां सयूराणाम् गन्धसारद्रुमाणां
चन्दनतृणानाम् । अन्यत् सुगन्धम् ।

“ततश्चचार समरे श्रितशूलधरो * हरिः” ।

अत्र हरेः शूलं लोकेऽप्रसिद्धम् ।

विधेर्विधेयस्य अनुवादः अप्राधान्येन निर्देशः, यथा,—

‘प्रयत्नपरिवोधितः स्तुतिभिरयं शेषे निशाम्’ इत्यत्र
श्रवितः प्रयत्नेन बोध्यसे इति विधेयम् ।

रसदोषानाह,—

“रसस्योक्तिः स्वशब्देन स्थायिसञ्चारिणोरपि ।

प्रतिकूलविभावादिग्रहो दोषः पुनः पुनः ॥

अक्रान्ते प्रथमच्छेदावङ्गस्याप्यतिविस्तृतिः ।

अङ्गिनोऽननुसन्धानं प्रकृतौनां विपर्ययः ॥”

इत्यादिकाः सहृदयै रसे दोषाः प्रकौचित्ताः ॥

रसस्य स्वशब्देन रसेतिशब्देन हास्यादिशब्देन वाऽ-
भिधानम्, स्थायिनां हासादीनां सञ्चारिणां निर्वेदादौ-
नाञ्च खनान्ना कथनं दोषः ।

† प्रतिकूलानां विरुद्धानां विभावादीनां ग्रहो ग्रहणम् ।

यथा, आदिमे निर्वेदादीनां शान्तसञ्चारिणां, वीरे च
वैवर्ण्यं वासादीनाम् भयानकस्यानुभावादीनां ग्रहणम् ।

पुनः पुनर्दोषित्यथा, कादम्बर्यां महाश्वेताविलापे ।

* अत्र शूलशब्दस्य पर्यायान्तरेणोपादानेऽपि दोष-
स्यास्य सङ्गाव इति प्रसिद्धतत्वाद्भेदः ।

† “सञ्चार्यादेर्विरुद्धस्य बाध्यत्वेन वचो गुणाः” ।

विश्वनाथः ।

अकाण्डेऽनुचितेऽवसरे प्रथनं प्रकटनं, यथा वेश्यां
द्वितीयेऽङ्के अनेकवीरसंख्ये प्रवृत्ते दुर्योधनस्य भानुमत्या
प्रसोदवर्णनम् ।

अकाण्डे छेदो यथा वीरचरिते राघवभार्गवयोर्दूरा-
धिरूढे संग्रामे “कङ्कणमोचनाय गच्छानि” इति राघव-
स्योक्तिः ।

यथा,—

“काकार्यं” शशलक्ष्मणः क्व च कुलं भूयोऽपि दृश्ये त सा
दोषाणां प्रथमाय मे श्रुतमहो कोपेऽपि कान्तं सुखम् ।
किं वक्ष्यन्त्यपकल्मषाः कृतधियः स्वप्नेऽपि सा दुर्लभा
चेतः स्वास्थ्यमुपेहि कः खलु युवा धन्योऽधरं धास्यति (४१)

विक्रमोः

अत्र प्रथमाङ्गानां वितर्कमतिशङ्काष्टौनामभिलाषा-
ङ्गीकृत्य व्यस्मृतिर्देन्य चिन्ताभिस्तिरस्कारः ।

(४१) काकार्यं चिति । अकार्यं कुमारीगमनमित्यर्थः क्व, शशलक्ष्मणः
चन्द्रस्य कुलञ्च क्व ? चन्द्रवंशीतमस्य सन आश्चर्यं न कथमपि युज्यते
इति भावः, सा ऊर्वशी भूयोऽपि पुनरपि दृश्येते पुनस्तं दृष्टुं
प्राप्तुमानि किमित्यर्थः । मे कस्य श्रुतं ज्ञानं दोषाणां कुकार्याणां
प्रथमाय शान्तये, अहो इति विषादे कोपेऽपि सुखं तस्या इति शेषः
कान्तं मनोहरम् । अपकल्मषाः निष्पापाः कृतधियः विद्वांसः किं
वक्ष्यन्ति ? देहशंसां दृष्ट्वा निन्द्यन्तीत्यर्थः सा स्वप्नेऽपि दुर्लभा
अदर्शनीयेति यावत् हे चेतः वित्तं, स्वास्थ्यं धैर्यं मु उपेहि अवलम्बस्व
कः खलु धन्यो भाग्यवान् युवा अधरं तस्या इति शेषः धास्यति
धास्यति !

अङ्गस्य अतिविस्तृतिः किरातार्जुनीये सुराङ्गना-
विलासादिवर्णने ।

अङ्गिनोऽननुसन्धानं यथा रत्नावल्यां चतुर्थेऽङ्के वाभ्र-
व्यागमने सागरिकाया विस्तृतिः ।

प्रकृतयो दिव्याः, अदिव्याः, दिव्यादिव्याश्च, तेषु च
धीरोदात्तादयः, तत्र यो यथाभूतस्तस्यावयवावर्णने प्रकृति-
विपर्ययो दोषः, यथा रामस्य छद्मना बालिबधः, यथा वा
कुमारसम्भवे अष्टमे उत्तमदेवतयोः पार्वतीपरमेश्वरयोः
सम्भोगवर्णनम् ।

उक्तानां दोषाणां केषाञ्चित् कचिद्दोषत्वं कचिद्-
गुणत्वञ्च । तच्च तत्तद्दोषोक्ते खण्ड्यलेषु पत्राधोभागे द्रष्ट-
व्यम् ।

“अनुकरणे च सर्वेषां दोषाणां स्याद्दोषता” ।

यथा,—प्रलपत्येव वैधेयः ‘स्मरन्स्ते यदि बाधति’ । (४२)

अत्र बाधतीति दृष्टमप्यनुकरणत्वाददृष्टम् ।

इति दोषविवेचनं नाम पञ्चमशिखा ।

(४२) प्रलपतीति एष वैधेयः मूर्खः प्रलपति वक्ति । स्मरन्
सृष्टम् ।

इति पञ्चमशिखा ।

षष्ठशिखा ।

गुणस्वरूपमाह मम्मटः,—

“ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः ।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः” ॥

आत्मन एव हि यथा शौर्यादयः, नाकारस्य, तथा
रसस्यैव माधुर्यादयो गुणाः न वर्णानाम् । अचलस्थितयो
नियतावस्थानाः ।

“माधुर्यौजः प्रसादाख्यास्तयस्ते” समुदौरिताः ।

माधुर्यलक्षणमुक्तं काव्यप्रकाशे,—

“आह्लादकत्वं माधुर्यं” चित्तस्य “द्रुतिकारणम्” ।

आह्लादकत्वमानन्दजनकत्वम्, द्रुतिर्गलितत्वमिव ।

“कुरुणे विप्रलम्भे तत् शान्ते चातिशयान्वितम्” ।

अत्यन्तद्रुतिहेतुत्वादित्यर्थः ।

“मूर्द्ध्नि वर्गान्यवर्णेन युक्ताष्टडडान् विना ।

रणौ लघू च तद्वाक्तौ वर्णाः कारणतां गताः ।

अष्टतिरल्यष्टतिर्वा मधुरा रचना तथा” ॥ (१)

(विश्वनाथः)

(१) मूर्द्ध्नीति । मूर्द्ध्नि शिरसि वर्गस्य अन्यवर्णेन शेषवर्णेन
युक्ताः क्व च प्रकृतय इत्यर्थः । ट उ ड ढान् विना टादिव्यतिरिक्ता

यथा,—

“तदिदं क्रियतामनन्तरं भवता बन्धुजनप्रयोजनम् ।
विधुरां ज्वलनातिसर्जनाच्च नु मां प्रापय पत्यु रन्तिकम्” ॥
(२) कु०स० ।

श्लोकः स्वरूपं तद्व्यञ्जकं वर्णादिकञ्चाह विश्वनाथः,—

“श्लोकाच्चित्तस्य विस्ताररूपं दीप्तत्वमुच्यते ॥
वीरवीभत्सरौद्रेषु क्रमेणाधिक्यमस्य तु” ॥
“वर्गस्याद्यतृतीयाभ्यां युक्तौ वर्णौ तदन्तिमौ ।
उपर्यधोद्वयोर्वा सरेफाष्टडडैः सह ॥
शकारश्च पकारश्च तस्य व्यञ्जकतां गताः ।
तथा समासवज्जला घटनौड्वत्यशालिनौ” ॥ (३)

इत्यर्थः लघू दीर्घस्वरायुक्तौ वर्णौ च रकारो णकाराश्च वर्णाः तद्व्यक्तौ
तस्य माधुर्यस्य व्यक्तौ प्रकटने कारणतां हेतुतां गताः हेतवो
भवन्तीत्यर्थः तथा अर्वाक्षः असमस्ता अल्पवृत्तिर्वा अल्पममस्ता वा
मधुरा मनोहारिणी रचना तद्व्यक्तौ कारणतां गतेति शेषः ।

(२) तदिति । कामविरहिण्या रतेर्वसन्तं प्रति विनायोक्तिरिवम् ।
हे वसन्त ! तत् तस्मात् भवता इदम् अन्तरम् अतः परकरणीयं
बन्धुजनप्रयोजनं भित्तक्यं क्रियताम् अनुदीयतां किं तदित्याह
विधुरानिति ननु मत्से ! विधुरां कतरां मां ज्वलनातिसर्जनाच्च
अग्निप्रदानात् पत्यु रन्तिकं स्वासिसन्निधिं प्रापय नय ।

(३) श्लोक इति । चित्तस्य मनसः विस्ताररूपं दीप्तत्वम् ज्वलितत्वम्
श्लोकः उच्यते वीरवीभत्सरौद्रेषु अस्य श्लोकजः क्रमेण आधिक्यं वीररसे
श्लोकः, वीभत्सरसे ततोऽपि अधिकमोजः रौद्रेषु ततोऽपि अधिक-
मित्यर्थः । वर्गस्य आद्यतृतीयाभ्यां क ग च ज ट ड त द् पश्चैरित्यर्थः

यथा,—“चञ्चद्भुजभ्रमितचण्डगदाभिघात-

सञ्चूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य ।

स्थानावनहघनशोणितशोणपाणि-

रक्तसंविष्यति कचांस्तव देवि ! भीमः” ॥ (४)

वैशीसः ।

प्रसादस्वरूपं तद्व्यञ्जकान् वर्णांश्चाह स एव,—

“चित्तं व्याप्नोति यः क्षिप्रं शुष्केभ्यनमिवानलः ।

स प्रसादः समस्तेषु रसेषु रचनासु च ।

शब्दास्तद्व्यञ्जका अर्थबोधकाः श्रुतिमात्रतः” ॥

यथा,—

युक्तौ तदन्तिनौ तयो राद्यत्तीवयोः कगादीनामित्यर्थः अन्तिमौ परवर्त्तिनौ ख घ छ झ ठ ट थ ध भा इत्यर्थः वर्णौ यथा क्वं ग्घ इत्यादयः तथा उपरि अधः द्वयो वा उपर्यध इत्यर्थः सरेफाः रेफसहिता यथा अर्क अय आर्द् इत्यादयः टठडडैः सृष्ट टादि-सहिता इत्यर्थः शकारश्च पकारश्च एते वर्णाः तस्य व्योमसः व्यञ्जकतां प्रकाशकत्वं गताः । तथा समासबहुला बहुसमस्तपदा औद्धत्यशालिनी उत्कटा घटना रचना पदविन्यासः तस्य व्यञ्जकतां गतेति शेषः ।

(४) चञ्चदिति । पाञ्चाली प्रति शुधिधिरस्योक्तिरियम् । हे देवि ! भीमः चञ्चदभ्यां चञ्चदभ्यां भुजाभ्यां भ्रमिता घूर्णिता या चण्डगदा तथा अभिघातेन प्रहारेण सञ्चूर्णितम् क्रूरयुगलं यस्य तथाभूतस्य सुयोधनस्य स्थानेन विसृतेन अवनहनेन संबिभ्रेन घनेन गाढेन शोणः रक्तः पाणिर्बल्य तादृशः सन् तव कचान् केशान् रक्तसंविष्यति सं वंश्यति ।

“गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ ।
करुणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वां वद किं न मे हृतम्” ॥

(५) रघु० ।

इत्यादिकं कालिदासग्रन्थेषु रामायणे च बाहुल्येन
दृश्यम् ।

“एषां शब्दगुणत्वञ्च गुणवृत्त्योच्यते बुधैः” ।

गुणवृत्त्या परम्परया ।

इति गुणविवेकी नाम षष्ठशिखा ।

सप्तमशिखा ।

रीतिसवरूपं तद्दे दांश्चाह—

“अस्त्यनेको गिरां मार्गः सूक्ष्मभेदः परस्परम् ।
तव वैदर्भगौडौयौ वर्ण्ये ते प्रस्फुटान्तरौ” ॥

दण्डी ।

(५) गृहिणीति । इन्दुमतीपिरहे अजय्य राज्ञ प्रलापवचन-
मिदम् । हे प्रिये ! त्वं मम गृहिणी गृहस्वामिनी सचिवः मन्त्री
मिथः एकान्ते सखी सहचारिणी तथा ललिते मनोज्ञे ललितं
विषु सुन्दरमिति कोपः कलाविधौ गृह्यगीतादिव्यापारे प्रियशिष्या
व्यतः त्वां हरता करुणाविमुखेन निर्दयेन मृत्युना अन्तर्केन मे मम
किं न हृतं वद, सर्वमेव गृहिण्यादिकं हृतमित्यर्थः ।

इति षष्ठशिखा ।

प्रस्फुटान्तरौ स्फुटप्रतीयमानभेदौ । मागं रीतिः,
सा च पदविन्यासप्रणालीरूपा । यथाह विखनाथः,—

“पदसङ्घट्टना रीतिरङ्गसंस्थाविशेषवत्” । (१)

वैदर्भीस्वरूपमाह स एव,—

“माधुर्य्यव्यञ्जनैर्वर्णैरचना ललितात्मिका ।
अट्टितिरल्पट्टित्तिर्वा वैदर्भी रीतिरिष्यते” ॥

ललितात्मिका मधुरस्वरूपा, वृत्तिः समासः, यथा,
“तदिदं क्रियताम्” (पृ० ८२) इत्यादि पूर्वमुक्तम्,—

“ओजः प्रकाशकैर्वर्णैर्वन्ध आङ्गस्वरः पुनः ।
समासबद्धता गौडी” दर्पणे समुदौरिता ॥

बन्धः रचना, आङ्गस्वरः गाढः । यथा,—

‘चच्चद्रुजभ्रमित’ इत्यादि (पृ० ८३) पूर्वमुक्तम् ।

इति रीतिविवेचनं नाम सप्तमशिखा ।

(१) पदेति । पदानां सुप्रतिङन्तानां सङ्घट्टना संबोजना सम्यक्
विन्यास इत्यर्थः । अङ्गानाम् व्यवधानां संस्थाविशेषवत् यथा-
स्थानविन्यासवत् रीतिः प्रणाली ।

इति सप्तमशिखा ।

अष्टमशिखा ।



फलहारस्वरूपमाह,—

“काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते” ।

दण्डी ।

ते च द्विविधाः, शब्दगताः अर्थगताश्च । शब्दगताः
अनुप्रासयमकादयः । तत्र,—

“अनुप्रासः शब्दसाम्यं वैषम्येऽपि स्वरस्य यत्” ।

स्वरवैसादृश्येऽपि व्यञ्जनमात्रसादृश्यं अनुप्रासः, स च
रसानुगुणो वर्णानां प्रकर्षेण न्यासः । यथा,—

लताकुञ्जं गुञ्जन्मदवदलिपुञ्जं चपलयन्

समालिङ्गन्नङ्गं द्रुततरमनङ्गं प्रवलयन् ।

मरुन्मन्दं मन्दं दलितमरविन्दं तरलयन्

रजोवृन्दं विन्दन् किरति मकरन्दं दिशि दिशि” ।

(१) विश्वनाथः ।

(१) लतेति । गुञ्जन्तः गुणगुणध्वनिं कुर्वन्तः मदवन्तः सोल्लासा
अलोनां भ्रमराणां पुञ्जा वस्त्रिन् तादृशं लताकुञ्जं व्रततीमण्डलं
चपलयन् कम्पयन् अङ्गं शरीरं प्राणिनामिति शेषः समालिङ्गन्
संस्पर्शन् द्रुततरं सद्यः अनङ्गं मदं प्रवलयन् वर्जयन् दलितं
विकसितं मरविन्दं कमलं तरलयन् चञ्चलीकुर्वन् रजोवृन्दं रजसां
परागाणां वृन्दं चयं विन्दन् लभमानः सन् मरुत् वायुः दिशि दिशि

“सत्यर्थे पृथगर्थायाः स्वरव्यञ्जनसंहतेः ।

क्रमेण तेनैवावृत्तिर्यमकं विनिगद्यते” ॥ (२)

विश्वनाथः ।

अत्र द्वयोरपि वर्णसङ्घातयोः क्वचित् सार्थकत्वं क्वचि-
न्निरर्थकत्वं क्वचिदेकस्य सार्थकत्वमपरस्य निरर्थकत्वमत-
उक्तं ‘सत्यर्थे’ इति, तेनैव क्रमेणेति ‘दमोमोद’ इत्यादे-
र्विविक्तविषयत्वम् (३) । एतच्च पदपादाद्यावृत्तित्वेन
प्रभूततमभेदम् (४) । दिङ्मात्र(५)मुदाक्रियते,—

“नवपलाशपलाशवनं पुरः

स्फुटपरागपरागतपङ्कजम् ।

मृदुलतान्तलतान्तमलोकयत्

स सुरभिं सुरभिं सुमनीभरैः” ॥ (६) माघः ।

सकरन्दं पुष्परसं किरति वर्धति । वसन्तवर्णनमिदम् । अत्र प्रथमे
पादे झ इति द्वितीये पादे ङ्ग इति तृतीये चतुर्थे च पादे न्द इति
व्यञ्जनसङ्घानां पुनः पुनरावृत्तिः ।

(२) सतीति । अर्थे सति विद्यमाने पृथगर्थायाः भिन्नार्थायाः
स्वरव्यञ्जनसंहतेः तेनैव क्रमेण पूर्वावृत्तक्रमेणेत्यर्थः आवृत्तिः पुनःपुनः
रुच्चारणम् यमकं विनिगद्यते कथ्यते ।

(३) विविक्तविषयत्वं विभिन्नविषयत्वम् ।

(४) प्रभूततमभेदं बहुतरप्रकारम् ।

(५) दिङ्मात्रं प्रदर्शनमात्रमित्यर्थः ।

(६) नवेति । राजसूये निमग्नितस्य इन्द्रप्रस्थं गच्छतः कृष्णस्य
प्रथि वसन्ताविर्भावदर्शनवर्णनमिदम् । स कृष्णः पुरः अगतः नवानि
पलाशानि पलाणि यत्र तादृशं पलाशवनं किंशुककाननं यस्मिन्

प्रथमे पादे द्वयोरपि, द्वितीये प्रथमस्यैव, तृतीये च द्वितीयस्यैव सार्थकत्वम्, चतुर्थे द्वयोरपि 'रभिंसु' इत्ये-
तयोर्निरर्थकत्वम् ।

“श्लिष्टैः पदैरनेकार्थाभिधाने श्लेष इष्यते” ।

(७) विश्वनाथः ।

स च वर्णप्रत्ययप्रकृतिपदादिश्लेषाद् बहुविधः यथा,—
“प्रतिकूलतामुपगते हि विधौ विफलत्वमेति बहुसाधनता
अबलम्बनाय दिनभर्तु रभून्न पतिष्यतः करसहस्रमपि” ॥

(८) माघः ।

तथोक्तं स्फुटैः प्रचुरैः परागैः रजोभिः परागतानि व्याप्तानि पङ्क-
जानि पद्मानि यस्मिन् तथाविधं मृदुलाभिः कोमलाभिः तान्नाभिः
मल्लवकुसुमभरेणावनताभिः लताभिः वल्लीभिः अन्नं रस्यं तथा सुमनसां
पुष्पाणां भरैः समूहैः सुरभिं सुगन्धं सुरभिं वसन्तं अलोक्तयत् अप-
श्यत् ।

(७) श्लिष्टैरिति । श्लिष्टैः नानार्थैः पदैः सुवन्ततिङन्तद्वयैः
अनेकानां बहुनाम् अर्थानाम् अभिधाने अभिधया प्रतिपादने श्लेष
इष्यते अभिधया बहुवर्णप्रतिपादनमेव श्लेष इति फलितम् ।

(८) प्रतिकूलतामिति । सूर्यास्तवर्णनमिदम् । विधौ विधातरि
चन्द्रे च प्रतिकूलतां विरोधिताम् उदयोन्मुखत्वञ्च उपगते प्राप्ते सति
बहुसाधनता विविधोपायवत्त्वं विफलत्वं वैफल्यम् एति प्राप्नोति ।
हि तथाहि पतिष्यतः अस्तं गमिष्यत इति यावत् दिनभर्तुः सूर्यस्य
कराणां करणानां हस्तानाञ्च बलिहस्तांशवः करा इत्यमरः सहस्रमपि
अबलम्बनाय आश्रयाय पतनप्रतिबन्धायेति यावत् न अभूत् ।
विधिर्विधाने हेवेचेति विधुः सुधांशुः शुभांशुरिति चामरः ।

अत्र विधावित्यत्र विधुविधिग्रन्थोक्तकारेकारयोरी-
काररूपत्वाद् वर्णशेषः, करेत्यत्र प्रकृतिसंज्ञे षोऽपि ।

“पृथुकार्तं स्वरपातं भूषितनिःशेषपरिजनं देव ! ।

विलसत्करेणुगहनं सम्प्रति समभावयोः सदनम्” ॥ (६)

अत्र पदशेषः ।

अर्थालङ्काराः स्वभावोक्तिरुपमादयश्च । तत्र स्वभावो-
क्तेर्वस्तुस्वभाववर्णनस्वरूपत्वात् स्वभाववर्णनञ्च वस्तूनां
प्रकृतञ्चेत्तद्वस्तूनि प्रत्यक्षमिव दर्शयित्वा सहृदयमनांसि
नितरामाकर्षतीति तस्या अतीव चमत्कारित्वात्तामेव
प्रथममाह ।

“स्वभावोक्तिरसौ चारु यथावद्वस्तुवर्णनम्” । (१०)

(६) पृथ्विति । राजानं प्रति कस्यचिद् भिन्नोरुक्तिः । हे देव !
सम्प्रति आवयोः तव सम चेत्यर्थः सदनं गृहं पृथुकार्तं स्वरपातं
भूषितनिःशेषपरिजनं तथा विलसत्करेणुगहनम् अतएव समं
तल्यम् । अर्थस्तु पृथूनि वह्नि कार्तं स्वरपाताणि शौवर्णभाजनानि
यस्मिन् तत् अन्यत्र पृथुकानां शिशूनां पृथुकः शवकः शिशुरित्यमरः
आर्तं स्वरस्य आहाराभावेन कातररवस्य पातं स्थानम् । भूषिताः
अलङ्कृताः निःशेषाः समस्ताः परिजनाः परिवारा यस्मिन् तथाविधम्
अन्यत्र भुवि भूतले शय्यादिरहिते इति भावः उषिताः स्थिताः
निःशेषाः परिजना यस्मिन् तथाविधम् । विलसद्भिः विलसन्तीभिश्च
करेणुभिः हस्तिभिः हस्तिनीभिश्च करेणुरिभ्यां स्त्रीनेभे इत्यमरः ।
गहनं निविडं पूर्णमित्यर्थः अन्यत्र विलेषु गर्तेषु बीदनीति विलसदो-
मूषिकाः तेषां रेणुभिः रजोभिः गहनं पूर्णम् ।

(१०) स्वभावोक्तिरिति । चारु मनोज्ञं सहृदयहृदयरञ्जनमित्यर्थः
यथावत् यथास्थितं वस्तुनः विषयस्य वर्णनम् असौ स्वभावोक्तिः ।

यथा अभिज्ञानशकुन्तले

“ग्रीवाभङ्गाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने दत्तदृष्टिः

पञ्चाङ्गेन प्रविष्टः शरपतनभयाद्भूयसा पूर्वकायम् ।

शष्पै रर्द्धावलीढैः शमविवृतमुखभ्रंशिमिः कौर्णवत्मा

पश्योदग्रमु तत्वाद्वियति बहुतरं स्तोकमुख्यां प्रयाति” ॥ (११)

यथा वा तत्रैव पञ्चमाङ्गादौ कञ्च, किनी जरावर्ण-
नम् । तत्रैव च सप्तमे नृपशिथोः सिंहशावकास्सन्दन-
विक्रान्तिवर्णनम् । उपमास्वरूपमुक्तमादर्श,—

“प्रस्फुटं सुन्दरं साम्यमुपमेत्यभिधौयते” । (१२)

प्रस्फुटमिति रूपकादेर्गम्यसाम्याङ्गेदाय, सुन्दरं
वैचित्र्यजनकं, तेन “गौरिव गवयः” इत्यत्र नायमलङ्कारः,
साम्यं सादृश्यम् । साम्यञ्च क्रियागतं, गुणगतम्, उभय-
गतञ्चेति त्रिविधम् ।

क्रमेणोदाहरणानि, तत्र क्रियागतं यथा,—

(११) योवेति । अयं नृग इति पूर्वोक्तान्वयः । अनुपतति
अनुगच्छति स्यन्दने रथे ग्रीवाभङ्गाभिरामं ग्रीवाया भङ्गेन अभिरामं
मनोऽत्र यथा तथा सुष्ठु पुनः पुनः दत्तदृष्टिः दृष्टिं ददत् शरस्य
पतनभयात् पञ्चाङ्गेन देहस्य पश्चिमभागेन भूयसा वाङ्मन्येन पूर्वकायं
प्रविष्टः तथा अर्द्धावलीढैः अर्द्धजग्धैः अतएव अमेण विष्टतात्
प्रकटितात् सुखात् भ्रंयन्तीति तथोक्तैः शष्पैः बालहृष्यैः कौर्णवत्मा
आच्छादितपथः सन् उदग्रमु तत्वात् अतिमु तगतित्वात् विवति आकाशे
बहुतरम् व्यलन् तथा उर्ध्वां पृथिव्यां स्तोकमल्यं प्रयाति धावति
प्रश्य अवलोकय ।

(१२) प्रस्फुटमिति । प्रस्फुटं सुव्यक्तम् । अन्यत् स्पष्टम् ।

“क्षणात् प्रबोधमायाति लङ्घ्यते तमसा पुनः ।

निर्वास्यतः प्रदीपस्य शिखेव जरती मतिः” ॥ (१३) अ० ग०

अत्र ‘आयाति’ ‘लङ्घ्यते’ इति च क्रियाद्वयस्य उपमेये
उपमाने च साम्यम् ।

गुणगतं यथा,—

“हरस्तु किञ्चित् परिलुप्तधैर्यसन्दोदयारम्भ इवाम्बुराशिः ।

उमामुखे विस्वफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि” ॥

(१४) कु० स० ।

अत्र परिलुप्तधैर्यत्वं गुण उभयत्रापि समानः ।

उभयगतं यथा,—

“क्षपयति हृदयेऽं स्नेहनिष्यन्दिनी ते

धवलवहलमुग्धा दुग्धकुल्ये च दृष्टिः” ॥ (१५) उत्तरच० ।

अत्र क्षपयतीति क्रियासाम्यं ‘स्नेहनिष्यन्दिनी
धवलवहलमुग्धा’ इति गुणसादृश्यञ्च ।

(१३) क्षणादिति । जरतः जरां गच्छतः स्फुरितोत्पत्तिः मतिः
निर्वास्यतः निर्वाणं गमिष्यतः प्रदीपस्य शिखेव क्षणात् क्षणमात्रेण
प्रबोधं प्रकटं ज्ञानं विकाशञ्च आयाति प्राप्नोति पुनः क्षणात् तमसा
मोहेन तिमिरेण लङ्घ्यते आक्रम्यते आग्नयते इत्यर्थः ।

(१४) हर इति । हरस्तु चन्द्रोदयस्य आरम्भे अम्बुराशिः
समुद्र इव किञ्चित् ईप्सुपरिलुप्तं विनष्टं धैर्यं यस्य तथाभूतः सन्
विस्वफलाधरोष्ठे उमयाः पावत्या मुखे विलोचनानि नेत्राणि
व्यापारयामास पातयामास चुम्बनार्थं साभिजापमद्राक्षीदिति भावः ।

(१५) क्षपयतीति । ते तव धवलवहलमुग्धा आतमनोहारिणी
स्नेहनिष्यन्दिनी स्नेहवर्षिणी दृष्टिः दुग्धकुल्येव जीरवारिदिव हृदयेऽं
जीवितेश्वरं क्षपयति आर्द्रयतीत्यर्थः ।

“मालोपमा यदेकस्योपमानं बहु दृश्यते” ।

विश्वनाथः ।

यथा,—

“प्रभामहत्या शिखयेव दीपस्त्रिमार्गयेव त्रिदिवस्य मार्गः ।
संस्कारवत्येव गिरा मनोषी तथा स पूतश्च विभूषितश्च” ॥

(१६)

“तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः” ।

मम्मटः ।

उपमानं चन्द्रादि, उपमेयं मुखादि । प्रकाशित-
विभिन्नस्वरूपयोरपि उपमानोपमेययोरतिसाम्यप्रदर्शनाय
काल्पनिकोऽभेदारोपो रूपकमित्यर्थः । यथा,—

“पर्याप्तपुष्पस्तवकस्तनाभ्यः स्फुरत्प्रबालोऽमनोहराभ्यः ।
लतावधूभ्यस्तरवोऽप्यवापुर्विनम्रशाखाभुजबन्धनानि” ॥

(१७) कु० स० ।

(१६) प्रमेति । स हिमवान् प्रभामहत्या प्रभोज्ज्वलया शिखया
दीप इव, त्रिमार्गया मन्दाकिन्या त्रिदिवस्य स्वर्गस्य मार्ग इव तथा
संस्कारवत्या विशुद्धया गिरा वाचा मनोषीव विद्वानिव तथा पार्वत्या
पूतश्च पवित्रीकृतश्च विभूषितश्च अलङ्कृतश्च ।

(१७) पर्याप्तेति । वसन्तवर्णनमिदम् । तरवोऽपि वृक्षा अपि
किञ्च वक्तव्यं सचेतनानामित्यपिशब्दार्थः । पर्याप्ताः प्रभूताः पुष्पाणां
स्तवका गुच्छा एव स्तना यासां ताभ्यः स्फुरद्भिः विकसद्भिः प्रवालैः
नवप्रप्लवैरेव ओडैः मनोहराभ्यः लता एव वध्वः ताभ्यः विनम्राः
शाखा एव भुजाः तैः बन्धनानि वेष्टनानि आलिङ्गनानीत्यर्थः अवापुः
प्रापुः ।

अत्र लतासु बधूनां पुष्पस्तवकादिषु च स्तनादीनाम-
भेदारोपः ।

“सम्भावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत्” ।

काव्यप्रका० ।

प्रकृतस्य उपमेयस्य, समेन उपमानेन । सम्भावनञ्च
उत्कटकोटिकः संशयः, अप्रस्तुतकोटिकत्वं च प्रस्तुतकोटे-
निर्गरणेन जायते, निर्गरणञ्च प्रस्तुतस्य कचिदनुपादानेन
कचिदुपात्तस्याप्यधःकरणेन भवति । यदुक्तम्,—

“विषयस्यानुपादानेऽप्युपादाने च सूरयः ।

अधःकरणमात्रेण निगोर्णत्वं प्रचक्षते” ॥ (१८)

विषयः प्रस्तुतम् । क्रमेणोदाहरणम्,—

“लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः ।

असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्विफलतां गता” ॥ (१९) सूच्छ०

अत्र तमसः प्रसरसम्पातादिरूपो विषयौ नोपात्तः ।

(१८) विषयस्येति । सूरयः विद्वांसः विषयस्य प्रस्तुतस्य अनु-
पादाने व्यग्रहणे उपादाने ग्रहणेऽपि अधःकरणमात्रेण निगोर्णत्वं
निर्गरणं प्रचक्षते कथयन्ति अधःकरणमेव निर्गरणमिति फलितम् ।

(१९) लिम्पतीति । सव्यावर्णनमिदम् । तमः अन्धकारम्
अङ्गानि अवयवानि लिम्पतीव लिप्मानि करोतीव नभः अन्तरीक्षम्
अञ्जनं कञ्जं वर्षतीव दृष्टिः चक्षुः असतां पुरुषाणां सेवेव विफलतां
निष्फलतां गता दर्शनव्यापारराहित्यादिति भावः । अत्र तमः प्रसर-
सम्पातरूपौ विषयौ लेपनवर्षणाभ्याम् अधःकृताविति बोध्यम् ।

“समयः स वर्त्तत इवैष यत्र मां
समनन्दयत् सुमुखि ! गौतमार्षितः ।

अयमागृहीतकमनौयकङ्कण-

स्तव मूर्त्तिमानिव महोत्सवः करः” ॥ (२०) उ०च० ।

अत्र विषयः कर उपात्तोऽपि मूर्त्तिमन्महोत्सवरूपे-
णाधःकृतः ।

“मन्ये शङ्के भ्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादिभिः ।
उत्प्रेक्षा व्यज्यते शब्दैरिवशब्दोऽपि तादृशः” ॥

(२१) दण्डी ।

मन्ये प्रसृतयः शब्दा उत्प्रेक्षाव्यञ्जकाः ।

“सिद्धत्वेऽध्यवसायस्यातिशयोक्तिनिर्गद्यते” ।

विश्वनाथः ।

प्रकृतस्य निगरणेनाभेदज्ञानमप्रकृतस्य अध्यवसायः,
तस्य च उत्प्रेक्षायामप्रसुतस्यानिश्चितत्वेन निर्देयात् साध्य-
त्वम् इह तु निश्चितत्वेनैव प्रतीतिरिति सिद्धत्वमित्यनयो-
र्भेदः । निगरणञ्च उभयत्रापि समानमेव । यथा,—

(२०) समय इति । हे सुमुखि ! एष स समयः वर्त्तत इव,
यत्र अयं गौतमेन गौतमनन्दनेन शतानन्देन अर्पितः समन्तं
प्रदत्तः आगृहीतं धृतं कङ्कणं हस्ताभरणविशेषः हस्तसूत्रं वा येन
तादृशः तव करः मूर्त्तिमान् देहवद्भवः महोत्सव इव मां समनन्द-
यत् ।

(२१) मन्ये इति । इव शब्दोऽपि तादृशः उत्प्रेक्षाव्यञ्जक
इत्यर्थः ।

“अकालजलदावली किरतु नाम सुक्तावली-

रपर्वणि विधुन्तुदसुदतु हन्त शीतद्युतिम् ।

इदन्तु महद्भुतं यदनपायिविद्युस्तता-

वलम्बिकनकाचलद्वयमधोमुखं लम्बते” ॥ (२२)

अत्र केशादेर्जलदावल्यादिरूपेणाध्यवसानम् । यथावा,—

“दृष्टिस्तृणीकृतजगत्त्रयसत्त्वसारा

धीरोद्धता नमयतीव गतिर्धरित्रीम् ।

कौमारकेऽपि गिरिवद्गुरुतान्दधानी

वीरो रसः किमयमेत्युत दर्प एषः” ॥ (२३) उ० च० ।

(२२) अकालेति । अकाले असमये जलदानां मेघानाम् आवली राजिः सुक्तावलीः सुक्ताप्रकरणं किरतु वर्षतु नाम सम्भावनायात् अकालमेघराजिभ्यो सुक्तावर्षणं सम्भाव्यते इत्यर्थः । विधुन्तुदो राज्ञः अपर्वणि पौर्णमासीव्यतिरिक्ते काले शीतद्युतिं चन्द्रं तदतु यस्तु हन्ते त्वपि सम्भवनायां तदपि सम्भाव्यते इति भावः तु किन्तु अनपायिनी स्थायिनीत्यर्थः या विद्युस्तता सौदामनीवल्ली तस्याम् अवलम्बते इति तथोक्तं कनकाचलद्वयं सौवर्णगिरियुगलम् अधोमुखं सत् लम्बते इति यत् इदं महत् अद्भुतम् आश्चर्यम् । स्नातोत्थितायाः कल्याञ्चिन्नायिकायाः केशकलापात् सम्मुखस्थितात् जलनिःसारणव्यापारवर्णनमिदम् । अत्र केशादिरूपोविषयो नोपात्तः जलदावल्यादिरूपेण निश्चिततयाधःकृतः प्रतीयते ।

(२३) दृष्टिरिति । दृष्टिः तृणीकृतः तृणवद्वगणित इत्यर्थः जगत्त्रयस्य त्रिजगतामित्यर्थः सत्त्वसारः प्रभावोत्कर्षः यथा तादृशी । धीरा चोद्धता गतिः पादविक्षेपः धरित्रीं पृथिवीं नमयतीव नतां करोतीव । एषः कौमारकेऽपि शैशवेऽपि गिरिवत् पर्वतवत् गुरुतं गौरवं दधानः अतएव वीरो रसः किम् ? उत अथवा दर्पः एति

अत्र कुशस्य वीररसरूपेण दर्परूपेण चाध्यवसानम् ।
प्रथमे विषयः केशादिर्नोपात्तः, द्वितीयेऽयमित्यनेनोपात्तो-
ऽप्यधःकृतः ।

“प्रस्तुतस्य यदन्यत्वं यद्यर्थोक्तौ च कल्पनम् ।
कार्यकारणयोर्ग्रन्थौ पौर्वापर्यं विपर्ययः ।
विज्ञेयातिशयोक्तिः सा” ऽप्यन्यैव प्रथमोक्ततः ॥

(२४) काव्यप्रका० ।

क्रमेणोदाहरणम्,—

“अन्यदेवाङ्गलावण्यमन्याः सौरभसम्पदः ।

तस्याः पद्मपलाशाच्याः सरसत्वमलौकिकम्” ॥ (२५)

आगच्छति । अन्यकृता यदतिशयोक्तप्रबङ्गार इत्युक्तं तद्वेयम् अत्र
क्रियुतशब्दाभ्यां संशयद्योतकाभ्याम् अध्यवसायस्य अनिश्चिततया
प्रतीतिः, निश्चिततया प्रतीतेरेव अतिशयोक्ते विषयत्वात् । अस्मन्मते तु
अत्र सन्देहालङ्कार एवेति बोध्यम् ।

(२४) प्रस्तुतस्येति । प्रस्तुतस्य विषयस्य अन्यत्वं पृथक्त्वं पृथक्-
तयाध्यवसानमित्यर्थः यद्यर्थोक्तौ कल्पनं यदि शब्दार्थवत्त्वात् कल्पितेन
अप्रस्तुतेन प्रस्तुतस्य अध्यवसानमित्यर्थः । कार्यकारणयोः पौर्वा-
पर्यं विपर्ययः कारणात् पूर्वं कार्यस्य भावितारूपेण समकालत्वेन
वा अध्यवसानं द्वितीयातिशयोक्तिरिति बोध्यं सर्वत्रैवाध्यवसानमस्तीति
सुधीभिर्भाव्यम् ।

(२५) अन्यदिति । तस्याः पद्मपलाशाच्याः कमलदललोचनायाः
कान्ताया इति शेषः अङ्गानां लावण्यं कान्तिविशेषः सुक्ताफलेषु
कावायास्तरत्नत्वमिवान्तरा । प्रतिभाति यदङ्गेषु तन्मालव्यमिहोच्यते
इति अन्यदेव पृथगेव सौरभसम्पदः गुणमिवः अन्याः अपराः, सरसत्वं

यदि शब्देन तत्पर्यायान्तरेण वा यद्यर्थस्य कथनेऽस-
म्भविनोऽर्थस्य कल्पनमित्यर्थः । यथा, —

“पुष्पं प्रबालोपहितं यदि स्या-

न्मुक्ताफलं वा स्फुटविद्रुमस्थम् ।

ततोऽनुकुर्याद्विशदस्य तस्या-

स्ताम्नोष्ठपर्यस्तरुचः स्मितस्य” ॥ (२६) कु०स० ।

कार्यकारणयोः पौर्वापर्यविपर्ययश्च विधा भवति
कारणात् पूर्वं कार्यस्य भावे, द्वयोः समकालत्वे च ।

क्रमेण यथा, —

“उदेति पूर्वं कुसुमं ततः फलं

वनोदयः प्राक् तदनन्तरं पयः ।

निमित्तनैमित्तिकयोरयं क्रम-

स्तव प्रसादस्य पुरस्तु सम्पदः” ॥ (२७) अ०श० ।

रसिकत्वम् अलौकिकं लोकाविलक्षणम् । अत्र प्रस्तुतस्य लावण्यस्य
अन्यत्वेनाध्यवसानम् ।

(२६) पुष्पमिति । पार्वत्याः स्मितवर्णनमिदम् । यदि पुष्पं
प्रबाले नवपल्लवे उपहितम् अर्पितं वा मुक्ताफलं नौक्तिकं स्फुटे
समुज्ज्वले विद्रुमे प्रबाले तिष्ठतीति तद्योक्तं स्यात् ततः तदा तस्याः
पार्वत्याः विशदस्य स्वरूपस्य ताम्नोष्ठपर्यस्तरुचः रक्ताधरपतितप्रभस्य
स्मितस्य रुद्धहासस्य अनुकुर्यात् स्मितस्येति कर्मणि षष्ठी । अत्र यदि
शब्दार्थबलात् प्रबालोपहितपुष्पादिना स्मितमध्यवसीयते ।

(२७) उदेतीति । पूर्वं प्रथमं फलोदयात् प्रागित्यर्थः कुसुमं
पुष्पम् उदेति विकसति, ततः कुसुमोदयादनन्तरं फलम् उदेतीति
शेषः, प्राक् घनानां मेघानाम् उदयः, तदनन्तरं पयः जलं भव-

“सममेव समाक्रान्तं द्वयं द्विरदगामिना ।

तेन सिंहासनं पित्रामखिलञ्चारिमण्डलम् ॥ (२८) रघु०

“उपमानाद्यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः” ।

मम्मटः ।

अन्यस्य उपमेयस्य, व्यतिरेक आधिक्यम् । स एव व्यतिरेकालङ्कारः । यथा,—

“चन्द्रं गता पद्मगुणान् भुंक्ते

पद्माश्रिता चान्द्रमसौमभिख्याम् ।

उमामुखन्तु प्रतिपद्य लोला

दिसंश्रयां प्रीतिमवाप लक्ष्मीः” ॥ (२९) कु०स० ।

अत्र उपमाभूतचन्द्रपद्मापेक्षया उपमेयस्य उमामुखस्य अधिकगुणवत्त्वकथनम् । यथा वा,—

“दिशि मन्दायते तेजो दक्षिणस्यां रवेरपि ।

तस्यामेव रघोः पाण्ड्याः प्रतापं न विषेहिरे” ॥ (३०) रघु०

तीति शेषः । निमित्तनैमित्तिकयोः कारणकार्ययोः अयं क्रमः नियमः तत्र प्रसादस्य अलुप्यहस्य तं पुरः अयत एव सम्पदः भवन्तीति शेषः । अत्र प्रसादस्य सम्पदां पश्चाद्भावितया अध्यवसानम् ।

(२८) सममेवेति । द्विरदगामिना गजपतिना तेन रघुना पित्र्यं सिंहासनम् अखिलम् अरिमण्डलं शत्रुमण्डलञ्च द्वयं सममेव समाक्रान्तम् अधिकृतम् अभिभूतश्चेत्यर्थः अत्र सिंहासनाक्रमात् परभावि शत्रुमण्डलाक्रमणम् उभयोः समकालभावितया अध्यवसानम् ।

(२९) चन्द्रं गतेति । पूर्वं व्याख्यातम् (७४ पृ०) ।

(३०) दिशीति । दक्षिणस्यां दिशि रवेः सूर्यस्यापि तेजः मन्दायते अत्यायते, तस्यामेव दिशि दक्षिणस्यां पाण्ड्याः तदाख्य-

अत्र उपमानभूतात् सूर्यादपि रघोः प्रतापातिशय-
वर्णनम् ।

“प्रतिवस्तूपमा सा साहाय्ययोग्यसाम्ययोः ।
एकोऽपि धर्मः सामान्यो यत्र निर्दिश्यते पृथक्” ॥

(३१) विश्वनाथः ।

प्रतीयमानसादृश्ययोर्वाक्ययोरेकस्यापि धर्मस्य पौन-
रुक्त्यभिया शब्दान्तरेण निर्देशः प्रतिवस्तूपमा । यथा,—
“मधुश्च ते मन्मथ ! साहचर्यादसावनुक्तोऽपि सहाय एव ।
समोरणो नोदयिता भवेति व्यादिश्यते केन हुताशनस्य” ? ॥

(३२) कु०स० ।

अत्र अनुक्तस्यापि सहजसहायस्य स्वत एव साहाय्य-
सम्पादने प्रवृत्तिरित्येक एवार्थः शब्दान्तरेण निर्दिष्टः ।

कविषाः रघोः प्रतापं कोपदण्डजं तेजः सप्रभावः प्रतापश्च यत्तेजः
कोपदण्डजमित्यमरः । न विषेहिरे न सोढुं शक्नुवित्यर्थः । रघु-
दिग्विजयवर्णनमिदम् ।

(३१) प्रतिवस्तूपमेति । यत्र गत्यसाम्ययोः प्रतीयमान-
सादृश्ययोः वाक्ययोः एकोऽपि अभिन्नोऽपि सामान्यो धर्मः गुण-
क्रियारूपः पृथक् पौनरुक्त्यभिया पर्यायान्तरेण निर्दिश्यते, सा
प्रतिवस्तूपमा वस्तुनि वस्तुनि प्रतिवस्तु तस्य उपमेति व्युत्पत्तिरित्य-
बोध्यते ।

(३२) मधुरिति । कामं हरसमाधिभङ्गोद्यतं प्रति इन्द्रस्योक्ति-
रियम् । हे मन्मथ ! काम ! कसौ पुरोवर्त्तीत्यर्थः मधुर्वसन्तश्च अमु-
क्तोऽपि अकथितोऽपि साहचर्यात् सहचरत्वात् ते तव सहाय एव
भविष्यतीति शेषः, त्वं हुताशनस्य अग्नेः नोदयिता सहायः भव इति
समोरणः वायुः केन व्यादिश्यते नियुज्यते ? न केनापीत्यर्थः ।

यथा वा, —

“धन्यासि वैदर्भि ! गुणैरुदारै-

र्यया समाकथ्यत नैषधोऽपि ।

इतः स्तुतिः का खलु चन्द्रिकाया

यदधिमप्युत्तरलीकरोति” ॥ (३३)

अत्र समाकर्षणरूप एक एव धर्मः भङ्ग्यन्तरेण पृथङ्-
निर्दिष्टः ।

“अभवन् वस्तुसम्बन्ध उपमापरिकल्पकः” ।

निदर्शना भवेत्मेयं मम्मटेन यथोदिता ॥ (३४)

उपमापरिकल्पकः पथ्यवसाने साम्यबोधकः । यथा,—

“क सूर्यप्रभवो वंशः क चाल्पविषया मतिः ।

तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम्” ॥ (३५) रघुव-

(३३) धन्यासोति । हे वैदर्भि ! त्वं धन्या भाग्यवती असि, यया
तया उदारैः सहृद्भिः गुणैः सौन्दर्यादिभिः नैषधः निषधराजः
नलोऽपि समाकथ्यत समाकटः, अयं समुद्रमपि उत्तरलीकरोति
चपल्यतीति यत्, चन्द्रिकायाः इतः अस्मात् का स्तुतिः प्रशंसा
खलु ।

(३४) अभवन्निति । वस्तुनः विषयस्य सम्बन्धः अन्वयः अभवन्
असम्भवन् अघटमान इत्यर्थः उपमायाः सादृश्यस्य परिकल्पकः प्रति-
पादकः सा इयं निदर्शना मम्मटेन यथोदिता यथा कथिता ।

(३५) केति । सूर्यः प्रभवति अस्मादिति प्रभवः कारणं यस्य
स वंशः क ? अल्लो विषयो यस्याः तथाभूता मतिश्च क ? नानयोः
सङ्गतिः कदाचिदपि भवितुमर्हतीति क इयस्यार्थः । अहं मोहात्
अज्ञानात् उडुपेन भेदेन दुस्तरं सागरं तितीर्षुः खलु । अत्र

अत्र नन्वाद्या सूर्यवंशवर्णनमुद्धेन सागरतरणमिवे-
त्युपमायां पर्यवस्यति । यथा वा,—

“अभ्युन्नताङ्गुष्ठनखप्रभाभिर्निक्षेपणाद्रागमिवोद्गिरन्ती ।
आजङ्गुस्तचरणौ पृथिव्यां स्थलारविन्दश्रियमव्यवस्थाम्” ॥
(३६) कु०स० ।

अत्र उपमाधर्मस्य अरविन्दश्रियस्वरणयोरुपमेयभूत-
योरसम्भवादरविन्दश्रियमिव श्रियमित्युपमायां पर्यवसा-
नम् ।

“दृष्टान्तस्तु सधर्मस्य वस्तुनः प्रतिविम्बनम्” ।

सधर्मस्य समानधर्मस्य वस्तुनो विषयस्य प्रतिविम्बनं
प्रणिधानेन गम्यसाम्यत्वम् । प्रतिवस्तूपमायामेकस्यैव
धर्मस्य भङ्गान्तरेण निर्देशः इत्यस्माद्भेदः । यथा,—

“नैतल्लघुपि भूयस्या वची वाचातिशय्यते ।

इत्थनौघधगप्यग्निस्त्रिषा नात्येति पूषणम्” ॥ (३७) भाष०

मन्वाद्या सूर्यवंशवर्णनरूपं वस्तु अभवत् उपमायां परिकल्पते इति
बोध्यम् ।

(३६) अभ्युन्नतेति । तस्याः पार्श्वत्याश्चरणौ अभ्युन्नतयोरङ्गुष्ठ-
नखयोः प्रभाभिः रागं रक्तम् उद्गिरन्ताविव पृथिव्याम् अव्यवस्थां चञ्चलां
स्थलारविन्दश्रियम् आजङ्गुतः आहृतगन्तौ प्रापतुरित्यर्थः ।

(३७) नैतदिति । एतत् वासुदेवं वचः लघु अत्यल्पपि भूयस्या
वज्रतरया वाचा न व्यतिशय्यते नातिक्रम्यते, अग्निः इत्थनौघधगपि
काष्ठराशिदाहकोऽपि त्रिषा तेजसा पूषणं सूर्यं न अत्येति नाति-
क्रामति । अत्र अन्यज्ञता यद् दृष्टान्तालङ्काराभिधानं तद्वेद्यम् अत्र
एकस्यैव धर्मस्य अतिक्रमरूपस्य वाक्ययोः पर्याधान्तरेण निर्देशात्

“सामान्यं वा विशेषो वा तदन्येन समर्थ्यते ।
यत्र सोऽर्थान्तरन्यासः साधर्म्येणेतरेण वा” ॥

मन्मथः ।

साधर्म्येण वैधर्म्येण वा सामान्यं विशेषेण विशेषो
वा सामान्येन यत्समर्थ्यते सोपपत्तिकतया दृढक्रियते
सोऽर्थान्तरन्यासः । समर्थ्यसमर्थकवाक्ययोः सामान्यविशे-
षभावेऽर्थान्तरन्यासः, दृष्टान्ते तु न तथेत्यनयोर्भेदः (३८) ।
सामान्यं विशेषेण यथा, -

“वृहत्सहायः कार्यान्तं क्षोदीयानपि गच्छति ।

सम्भूयाभ्योधिमभ्येति महानद्या नगापगा” ॥ (३९)

शिशुपालः ।

अत्र द्वितीयाद्विगतेन विशेषेणार्थेन पूर्वविगतः सामा-
न्योऽर्थः समर्थ्यते । विशेषः सामान्येन यथा, -

यावदर्थपदां वाचमेवमादाय साधवः ।

प्रतिवस्तूपमैव । दृष्टान्तोदाहरणन्तु

अविदितगुणापि सत्कविभणितिः कर्णेषु वसति सधुधाराम् ।

अनधिगतपरिमलापि हरति दृग्ं सालतो साला ॥

इति बोध्यम् ।

(३८) समर्थ्यसमर्थकवाक्ययोः सामान्यविशेषभावेऽर्थान्तरन्यासः
दृष्टान्ते प्रतिवस्तूपमायाञ्च न तथेति परस्परम् भेदः ।

(३९) वृहदिति । क्षोदीयानपि अतिक्षुद्रोऽपि वृहत्सहायः
सहासहायः सन् कार्यान्तं गच्छति, नगापगा गिरिनिर्भरिणी महा-
नद्या सम्भूय मिलित्वा अभ्योधिं समुद्रम् अभ्येति प्राप्नोति ।

(४०) यावदिति । साधवः ज्ञानः एवम् उक्तप्रकारं यावन्तोऽपि

विरराम महीयांसः प्रकृत्या मितभाषिणः” ॥ (४०)

शिशुपाल० ।

अत्र द्वितीयाह्निकेन सामान्येनार्थेन प्रथमाह्निकेन विशेषोऽर्थः समर्थ्यते । वैधर्म्येण यथा,—

“इत्यमाराध्यमानोऽपि क्षिप्राति भुवनत्रयम् ।

शाम्ये त्रत्यपकारेण नोपकारेण दुर्जनः” ॥ (४१) कु० स०

अत्र द्वितीयाह्निकेन सामान्येनार्थेन प्रथमाह्निकेन विशेषोऽर्थो वैधर्म्येण समर्थ्यते ।

“पदार्थानां प्रस्तुतानामन्येषां वा यदा भवेत् ।

एकधर्माभिसम्बन्धः स्यात्तदा तुल्ययोगिता” ॥

विश्वनाथः ।

केवलं प्रस्तुतानामप्रस्तुतानां वा एकधर्मसम्बन्धः तुल्य-
योगिता । यथा,—

“यं सर्वशैलाः परिकल्प्य वत्सं

मेरौ स्थिते दोग्धरि दोहदक्षे ।

इति यावदर्थं साकल्येऽव्ययोभावः यावदर्थं पदानि यस्याः तां वाचमु-
च्चादाय उक्त्वा इत्यर्थः विरराम, महीयांसः महत्तराः प्रकृत्या स्व-
भावेन मितभाषिणः अल्पवादिनो भवन्तीति शेषः ।

(४१) इत्यमिति । इत्यम् अनेन प्रकारेण आराध्यमानोऽपि
सेव्यमानोऽपि स तारक इति पूर्वोक्तान्वयः । भुवनत्रयं क्षिप्राति
तापयति, दुर्जनः प्रत्यपकारेण शाम्येत् उपकारेण न । अत्र केश-
शमने विरुद्धधर्माविति बोध्यम् ।

(४२) यमिति । सर्वशैलाः सर्वे पर्वताः दोहदक्षे दोहनकुशले
मेरौ दोग्धरि दोहके स्थिते सतीत्यर्थः यं हिमालयं वत्सं परिकल्प्य

भास्वन्ति रत्नानि महीषधीश्च

पृथूपदिष्टां दुदुहुर्धरित्रीम्” ॥ (४२) कु०स० ।

अत्र हिमवद्वर्णनस्य प्रकृतत्वात् तद्वर्णधरत्नानां
इयानामपि प्रकृतत्वम्, तेषां दीहनक्रियारूपैकसमान-
धर्मसम्बन्धात् केवलप्राकरणिकविषयोऽयमलङ्कारः ।

“नागेन्द्रहस्तास्त्वचि कर्कशत्वा-

देकान्तशैत्यात् कदलीविशेषाः ।

लब्धापि लोके परिणाहि रूपं

जातास्तदूर्वोरुपमानवाद्याः” ॥ (४३) कु०स०

अत्र नागेन्द्रहस्तानां कदलीविशेषाणाञ्च इयानामप्य-
प्रसृतानां परिणाहिरूपलाभक्रियायाः समानधर्मस्य
सम्बन्धात् केवलाप्राकरणिकविषयकमिदमुदाहरणम् ।

“अप्रसृतप्रसृतयोर्दीपकन्तु निगद्यते” ।

विश्वनाथः ।

अप्रसृतप्रसृतयोरैकधर्माभिसम्बन्धो दीपकम् । यथा,—

बद्धावलेपादधुनापि पूर्ववत्

प्रवाध्यते तेन जगज्जिगीषुणा ।

पृथुता राज्ञा उपदिष्टां निर्दिष्टां धरित्रीं भास्वन्ति प्रभापूर्णाणि
रत्नानि महीषधीश्च दुदुहुः ।

(४२) नागेन्द्रेति । नागेन्द्रहस्ता गजशृङ्गादण्डा इत्यर्थः त्वचि
चर्मणि कर्कशत्वात् काठिन्यात्, कदलीविशेषाः एकान्तशैत्यात् अति-
शीतलत्वात् लोके जगति परिणाहि विशालं परिणाहो विशालते-
त्यमरः । रूपं लब्धापि तदूर्वोः तस्याः पार्वत्याः ऊर्वोः उपसीयते
अनेनेति उपमानं तस्मात् वाद्याः वहिस्थिता जाताः ।

सती च योषित् प्रकृतिश्च निश्चला

पुमांसमभ्येत भवान्तरेष्वपि" ॥ (४४) शि० व०

अत्र प्रसुतायाः प्रकृतेरप्रसुतायाः पतिव्रतायाश्च जन्मान्तरेऽपि स्वकीयपुरुषानुगमनरूपैकक्रियासम्बन्धः ।

“अथ कारकमेकं स्यादनेकासु क्रियासु चेत्” ।

विश्वनाथः ।

तत्रापि दौषकमेव । यथा,—

“विनिश्चेतुं शक्यो न सुखमिति वा दुःखमिति वा

प्रमोहो निद्रा वा किमु विषविसर्पः किमु मदः ।

तव स्पर्शे स्पर्शे मम हि परिमूढे इन्द्रियगणो-

विकारश्चैतन्यं भ्रमयति च सम्मोलयति च” ॥ (४५)

उ० च० ।

अत्र भ्रमयति सम्मोलयति चेत्युभयोः क्रिययोः कर्तृ-
कारकमेकं विकार इति कर्मकारकश्चैकं चैतन्यमिति ।

(४४) बलावलेपादिति । जिगोषुणा तेन शिशुपालेन बलाव-
लेपात् बलदर्पात् अधुनापि पूर्ववत् पूर्वजन्मनीव जगत् प्रवाध्यते प्रपी-
यते । सती साध्वी योषित् नारी निश्चला स्थिरा प्रकृतिः स्वभावश्च
भवान्तरेष्वपि जन्मान्तरेष्वपि पुमांसं पुरुषम् अभ्येत प्राप्नोति ।

(४५) विनिश्चेतुमिति । सीतां प्रति रामस्योक्तिः । हे प्रिये !
तव स्पर्शे स्पर्शे प्रतिस्पर्शं सुखमिति वा दुःखमिति वा प्रमोहो वा
निद्रा वा, विषविसर्पः विषेण व्याच्छ्रिता किमु, मदः मद्यपान-
जनितावस्था किमु विनिश्चेतुं विशेषेण निर्धारयितुं न शक्यः, हि
यतः परिमूढः विवश इत्यर्थः इन्द्रियगणो येन तादृशो मम विकारः
चैतन्यं भ्रमयति च सम्मोलयति च आदृशोति च ।

“सन्देहः प्रकृतेऽन्यस्य संशयः प्रतिभोत्थितः” ।

विश्वनाथः ।

भेदोक्तौ तदनुक्तौ च द्विधासौ परिकीर्त्तितः ॥

प्रकृते उपमेये, अन्यस्य उपमानस्य । प्रतिभा कवि-
प्रौढोक्तिः तथा उत्थितः, तेन स्थाणुर्वा पुरुषो वेति सन्देहे
नायमलङ्कारः । भेदो वैधर्म्यम् । भेदोक्तौ यथा,—

“अयं मार्त्तण्डः किं ? स खलु तुरगैः सप्तभिरितः

कशानुः किं ? सर्वाः प्रसरति दिशो नैष नियतम् ।

कतान्तः किं ? साक्षान्महिषवहनोऽसाविति चिरं

समालोक्याजौ त्वां विदधति विकल्पान् प्रतिभटाः” ॥ (४६)

भेदानुक्तौ यथा,—

“अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः ?

चित्तोन्मादरसः स्वयं नु मदनी मासो नु पुष्पाकरः ? ।

(४६) अयमिति । अयं किं मार्त्तण्डः सूर्यः ? न हीत्याह,
स मार्त्तण्डः खलु निश्चितं सप्तभिः तुरगैः अश्वैः इतः युक्तः, अयन्तु
न तथेति भावः । कशानुः अग्निः किम् ? न हीत्याह एषः कशानुः
नियतं सर्वा दिशो न प्रसरति न विराजते इत्यर्थः प्रसिद्धमूर्ध्वज्वलनं
हविर्भुज इति नायं तथेति भावः । साक्षात् स्वयं कतान्तः अन्नकः
किम् ? न हीत्याह असौ कतान्तः महिषवहनः नायं तथेति भावः
प्रतिभटाः प्रतिवीराः आजौ युद्धे त्वां समालोक्य चिरं वड्ढव्यसम्
इति विकल्पान् तर्कान् विदधति कुर्वन्ति ।

(४७) अस्या इति । ऊर्वशी इहा पुरुषवस्तुर्कोक्तिः । अस्याः
ऊर्वस्याः सर्गविधौ सृष्टिव्यापारे कान्तिप्रदः लावण्यदः चन्द्रः प्रजा-
पतिः स्रष्टा अभूत् नु, चित्तस्य उन्मादे उन्मत्तोकरणे रसः अनुरागो

वेदाभ्यासजडः कथं नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो-
निर्मातुं प्रभवेन्ननोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः” ॥ (४७)

विक्रमो० ।

“सास्यादतस्मिंस्तद्बुद्धिर्भ्रान्तिमान् प्रतिभो-
त्यिता” ॥ (४८)

विश्वनाथः ।

प्रतिभोत्यितेति ‘शुक्तिकायां रजतम्’ इति भ्रान्ति-
नांस्यालङ्कारस्य विषयः । यथा,—

“महाराज ! श्रीमन् ! जगति यशसा ते धवलिते
पयःपारावारं परमपुरुषोऽयं सृगयते ।

कपर्दी कैलासं करिवरमथायं कुलिशभृत्

कलानाथं राहुः कमलभवनी हंसमधुना” ॥ (४९)

यस्य तथाभूतः मदनः कामः स्वयं नु प्रजापतिरभूदिति शेषः अथवा
पुष्पाकरो वसन्तः मासः नु, प्रजापतिरभूदिति शेषः । वेदाभ्यासेन
जडः मन्यरमतिः अतएव विषयेभ्यः सूक्ष्मन्दनवनितादिभ्यो व्यावृत्तं
निवृत्तं कौतूहलं यस्य तथाभूतः पुराणो मुनिः वदरिकाश्रमवासी
नारायणः इदं मनोहरं रूपं निर्मातुं कथं नु प्रभवेत् शक्त्यात् न
कथमपीत्यर्थः ।

(४८) सास्यादिति । अतस्मिन् वस्तुनीति शेषः सास्यात् सादृश्यात्
प्रतिभोत्यिता कविप्रौढोक्तिसमुद्भूता तद्बुद्धौ बोधः भ्रान्तिमान् ।

(४९) महाराजेति । हे श्रीमन् महाराज ! ते तव यशसा
जगति धवलिते शुक्लीकृते अधुना अयं परमपुरुषः पयःपारावारं
जीरसागरं, कपर्दीं शम्भुः कैलासम्, अयं कुलिशभृत् वज्जी करिवरम्
शेरावतं राहुः कलानाथं चन्द्रः कमलभवनीः ब्रह्मा हंसं सृगयते
अन्विष्यति ।

अत्र भोजराजस्य यशसा धवलोकते जगति सर्वत्रापि
परमपुरुषादीनां समुद्रादिभ्रान्तिः कविप्रतिभोत्थितेति
भ्रान्तिमानलङ्कारः ।

“प्रकृतं प्रतिषिद्धान्यस्यापनं स्यादपङ्कतिः” ।

(५०) विश्वनाथः ।

इहापि कविप्रौढोक्तिसिद्धमेव । यथा,—

“नेदं नभोमण्डलमम्बु राशि-

नैताश्च तारा नवफेणभङ्गाः ।

नायं शशी कुण्डलितः फणीन्द्रो

नासौ कलङ्कः शयितो सुरारिः” ॥ (५१)

अत्र प्रकृतानां नभोमण्डलादीनां प्रतिषेधेन अम्बु-
राशिप्रभृतीनामप्रस्तुतानां स्थापनम् । यथा वा,

“दशाननकिरीटेभ्यस्तत्क्षणं राक्षसत्रियः ।

मणिव्याजेन पर्यस्ताः पृथिव्यामशुविन्दवः” ॥ (५२)

रघुवंशम् ।

(५०) प्रकृतमिति । प्रकृतं प्रस्तुतं प्रतिषिद्ध्य निषिद्ध्य अन्यस्य
अप्रकृतस्य स्थापनम् अपङ्कतिः स्यात् ।

(५१) नेदमिति । इदं नभोमण्डलम् आकाशमण्डलं न, अम्बु-
राशिः समुद्रः, एताश्च तारा नक्षत्राणि न, नवाः फेनानां भङ्गाः
वेदाः । अयं शशी चन्द्रो न, कुण्डलितः मण्डलाकारेण स्थितः
फणीन्द्रः शेषः, नासौ कलङ्कः न, शयितः सुरारिः नारायणः ।

(५२) दशाननेति । तत्क्षणं रामजन्मक्षणे इत्यर्थः राक्षसानां
त्रियः लङ्कायाः अशुविन्दवः वाष्पकणाः मणिव्याजेन दशाननस्य

रावणस्य किरीटेभ्यः सुकुटेभ्यः पर्यस्ताः पतितः ।

अत्र प्रस्तुतानां मणीनां प्रतिषेधेन अशुविन्दूनां स्थाप-
नम् । समासोक्तिलक्षणमुक्तमात्रे ये,—

“यत्नोक्ताद्गम्यतेऽन्योऽर्थस्तत्समानविशेषणः ।

सा समासोक्तिरदिता संचेपार्थतया बुधैः” ॥

तत्समानविशेषण इत्यु, पलक्षणम्, तेन तत्समानकार्यः
तत्समानलिङ्गश्च गृह्यते । यत्र समैर्विशेषणैः कार्ये लिङ्गैश्च
उक्तात् प्रस्तुतादप्रस्तुताद्वाऽन्यो यथाक्रममप्रस्तुतः प्रस्तुतो
वाऽर्थो बोध्यते सा संचेपोक्तिस्वरूपत्वात्, ‘समासेन संचे-
पेण उक्तिः’ इति व्युत्पत्त्या समासोक्तिः कथिता । ‘संचे-
पश्च एकस्य वचनेनोभयप्रतिपत्तिरिति । आदर्शे, अप्र-
स्तुताद्वाच्यात् प्रस्तुतस्य गम्यत्वे समासोक्तिरित्यभिहितम्,
नव्यास्तु तद्वैपरीत्येन प्रस्तुतादप्रस्तुतप्रतीती समासोक्तिः
अप्रस्तुतात् प्रस्तुतप्रतीतावप्रस्तुतप्रशंसेत्याहुः । वाच्ये प्रस्तु-
तेऽप्रस्तुतव्यवहारसमारोपः समासोक्तिरिति विश्वनाथा-
दयः । वस्तुतस्तु उभयत्रापि समासोक्तेरेवाभ्युपगमस्यौ-
चित्यात्तदनुगुणमेव प्राचीनरीत्या लक्षणमुक्तमस्माभिः ।
उदाहरणं क्रमेण,—

“श्रुतिमुखभ्रमरखनगीतयः

कुसुमकीमलदन्तरुचो बभूवुः ।

उपवनान्तलताः पवनाहतैः

किसलयैः सलयैरिव पाणिभिः” ॥ (५३) रघु० ।

(५३) श्रुतीति । श्रुतिमुखाः श्रवणानन्दिनः अमराणां स्वना-
मुञ्जनानि गीतय इव वासां ताः तथा कुसुमानि कीमला दन्तानां

अत्र विशेषणसाम्यात् कार्यसाम्याच्च प्रस्तुतादनलता-
रूपार्थादप्रस्तुतो नर्त्तकौ रूपोऽर्थः प्रतीयते ।

चातकास्त्रिचतुरान् पयःकरणान्

याचते जलधरं पिपासितः ।

सोऽपि पूरयति भूयसान्धसा

चित्रमत्र महतामुदारता” ॥ (५४)

अत्र अप्रस्तुताच्चातकाज्जलधराच्च कार्यसाम्यात् प्रस्तुतो
याचकः, उदाराश्रयो धनपतिश्च बोध्यते ।

अप्रस्तुतप्रशंसा स्यादप्रक्रान्तेषु या स्तुतिः ।

तन्मुखेन प्रस्तुतस्य निन्दा यत्र प्रतीयते” ॥

दण्डी० ।

अप्रक्रान्तेषु, अप्रस्तुतेषु अप्रस्तुतानामित्यर्थः, षष्ठ्यर्थं
सप्तमी । यथा,—

“पादाहतं यदुत्थाय मूर्धनिमधिरोहति ।

स्वत्यादेवापमानेऽपि देहिनस्तद्वरं रजः” ॥ (५५) शिशुपा०

रजः प्रभा यासां तथाविधाः उपवनानलताः पवनाहतैः वायु-
कस्मितैः किसलयैः नवपल्लवैः सलयैः लयाख्यसङ्गीताङ्गहस्ताचलन-
साहितैः पाणिभिः भुजैरिव वभुः शोभन्ते सा ।

(५४) चातक इति । चातकः पक्षिविशेषः पिपासितः सन्
जलधरं त्रिचतुरान् पयःकरणान् वारिविन्दन् याचते प्रार्थयते, सोऽपि
जलधरोऽपि भूयसा प्रचुरेण सन्धसा पूरयति तत्प्रार्थनमिति शेषः ।
यत्र जगति महतां जनानाम् उदारता वदान्यता चित्रम् आश्चर्यम् ।

(५५) पादाहतमिति । यत् पादाहतं चरणतान्निमित्तं सत्

अत्र अप्रस्तुतस्य रजसः प्रशंसामुखेन प्रस्तुतस्य अपमान-
सहिष्णोर्निन्दा प्रतीयते । यथा वा,—

“सुखं जीवन्ति हरिणा वनेष्वपरसेविनः ।

अन्नैरयत्नसुलभैस्तृणदर्भाङ्कुरादिभिः” ॥ (५६)

अत्र सृगाणां सुखजीवनस्याप्रस्तुतस्य प्रशंसया प्रस्तु-
तस्य राजानुवृत्तिजीवनस्य निन्दा प्रतीयते ।

“व्याजस्तुतिर्मुखे निन्दा स्तुतिर्वा रूढिरन्यथा” ।

मन्मथः ।

मुखे आपाततः, अन्यथा यथाक्रमं सुत्यां निन्दायां
वा रूढिः पर्यवसानम् । स्तुतिपर्यवसायिनी निन्दा
निन्दापर्यवसायिनी स्तुतिश्च व्याजस्तुतिरिति फलितम् ।
निन्दायाः स्तुतिरूपेण पर्यवसाने व्याजेन स्तुतिरिति
व्याजस्तुतिः, स्तुतेर्निन्दारूपेण पर्यवसाने व्याजरूपा
स्तुतिः । क्रमेण यथा,—

त्यक्त्वा राज्यं गिरमनुसरन् स्त्रीवशान्मूढबुद्धे-

राज्ञो भ्रान्त्वा गहनविपिने हारयन् सुग्धकान्ताम् ।

पादाहन्तुरिति शेषः सूक्ष्मं मस्तकम् अधिरोहति आक्रामति, तत्र
रजः अपमाने गन्तुं परामर्शेऽपि स्वस्यात् देहिनः वरं सनाक् प्रियम् ।

(५६) सुखमिति । वनेषु अपरसेविनः परसेवनवर्जिताः हरिणा
अयत्नसुलभैः अनायाससुलभैः तृणदर्भाङ्कुरादिभिः सुखं जीवन्ति ।

(५७) त्यक्तेति । रामं प्रति कस्यचिद् व्याजस्तुतिः । हे राम !
स्त्रीवशात् स्वैषत्वात् मूढबुद्धेः दुर्मतेरित्यर्थः राज्ञः दशरथस्येत्यर्थः गिरं
त्वं वनं गच्छेति वाचस्व अनुसरन् प्रतिपालयन् राज्यं त्यक्त्वा गहन-

सख्यं बद्धा कपिभिरसमं लङ्घयन् कीर्त्तिमग्रां
पूर्वेषां वो विलयमनयो हेमलङ्कां किमेतत् ॥ (५९)

अत्र स्त्रीवशवर्त्तिनो मूढधियो नरपतेर्वचनप्रतिपालनम्, पूर्वेषां सगरसुतानां कीर्त्तिलङ्घनादिकञ्चापाततो निन्देव प्रतिभाति. चरमे तु पितुः प्रतिज्ञा संरक्षिता, दुस्तरं तोयनिधिमुत्तीर्य दुःसहप्रतापी वनितापहारो दशाननो विजितः समूलमुन्मूलितश्चेत्यहो दुष्करं कृतमिति सर्वमेव स्तुत्यां पर्यवस्यतीति निन्दायाः स्तुतिरूपेण पर्यवसाने व्याजस्तुतिः ।

युक्तं तवेतत् रघुवंशभूपते !

सतां हि सख्युः परिपालनं व्रतम् ।

इतः स्तुतिः का जगदीश ! निर्मला

भवान् यदर्थं न्यबधीन्निरागसम् ॥ (५८)

विपिने निविडारण्ये सुगन्धकान्तां सुन्दरीं रमणीं हारयन् राजसे-
नेति शेषः कपिभिः वानरैः असमम् अलङ्क्यम् सख्यं बद्धा कृत्वा वः
युष्माकं पूर्वेषां पूर्वपुरुषाणां सगरवंशीयानामित्यर्थः अग्रां महतीं
कीर्त्तिं सागरमित्यर्थः लङ्घयन् सेतुबन्धनेन तरन्मित्यर्थः हेमलङ्कां
सख्यलङ्कापुरीं विजयं विध्वंसम् अनयः प्रापितवानसि, किमेतत् ?

(५८) युक्तमिति । हे रघुवंशभूपते ! तव एतत् सुग्रीवप्रोति-
करणमिति भावः युक्तम् उचितं हि यतः सतां साधूनां सख्युः
परिपालनं परिरक्षणं व्रतम् अवश्यकर्तव्यमित्यर्थः, हे जगदीश !
इतः अस्मात् परं निर्मला विशुद्धा स्तुतिः का ? यदर्थं यस्याः स्तुत्याः
कृते इत्यर्थः भवान् निरागसं निरपराधं मामिति शेषः न्यबधीत्
निहतवान् । रामं प्रति वालिराजस्योक्तिः ।

अत्र प्रियबन्धोः संरक्षणमुचितमेवेति तव सुग्रीवस-
हायत्वं युक्तमेवेत्यापाततः स्तुतिरपि, मित्रकार्यार्थं निर-
पराधस्य जौर्णकलेवरस्य शाखासृगस्य मे हननं सर्वथा
गर्हितमेवेति चरमे निन्दायां पर्यवस्यतीति स्तुतेर्नि-
न्दायां पर्यवसाने व्याजस्तुतिः ।

“प्रसिद्धस्योपमानस्योपमेयत्वप्रकल्पनम् ।

निष्फलत्वाभिधानं वा प्रतीपमिति कथ्यते” ॥

विश्वनाथः ।

क्रमेण यथा,—

“यत्त्वन्ने त्वसमानकान्ति सलिले मग्नं तदिन्द्रोवरं ।

मेघैरन्तरितः प्रिये ! तव मुखच्छायानुकारी शशी ।

येऽपि त्वदुगमनानुकारिगतयस्ते राजहंसा गता-

स्वत्सादृश्यविनोदमात्रमपि मे दैवेन न क्षम्यते” ॥ (५६)

(५६) यदिति । हे प्रिये ! तव नेत्रयोः समाना कान्त्यस्य
तादृशं यत् इन्द्रोवरं नीलोत्पलम् इन्द्रोवरञ्च नीलेऽस्मिन्नित्यमरः ।
तत् सलिले जले मग्नं विनष्टम् । तव मुखच्छायानुकारी त्वन्मुख-
सदृशकान्तिरित्यर्थः शशी चन्द्रः मेघैरन्तरितः तिरोहितः, येऽपि तव
गमनानुकारिणी गतिर्येषां तादृशाः राजहंसाः, तेऽपि गताः
मानसमिति शेषः वर्षासु हंसानां मानसगमनस्य कविसमवसिद्धत्वा-
दिति भावः । अतः दैवेन प्रतिकूलविधिनेत्यर्थः तव सादृश्येन यः
विनोदः कथमपि चित्तसन्तोषः तन्मात्रमपि न क्षम्यते न सहाते ।
सादृश्यदर्शनादयो हि विरहिणां विनोद इति शास्त्रात् । सीता-
मुकुत्य रामस्य तां प्रत्युक्तिः ।

“मुखं यदि किमिन्दुना यदि चलाञ्चले लोचने

किमुत्पलकदम्बकैर्यदि तरङ्गभङ्गी भ्रुवौ ।

किमात्मभवधन्वना यदि सुसंयताः कुन्तलाः

किमम्बुवहडम्बरैर्यदि तनूरियं किं श्रिया” ॥ (६०)

वी०च० ।

प्रथमे प्रसिद्धानामुपमावस्तूनामिन्दीवरादीनामुप-
मेयत्वप्रकल्पनम्, द्वितीये इन्द्रप्रभृतीनां निष्फलत्वकथ-
नम् ।

शब्दैः सभावादेकार्थैः श्लेषोऽनेकार्थवाचनम् ।

विश्वनाथः ।

(६०) सुखमिति । यदि मुखं तस्या इति शेषः विद्यते इति
शेषः तदा इन्दुना चन्द्रेण किम् ? न किमपि प्रयोजनमित्यर्थः ।
तन्मुखेनैव इन्दुकार्यस्य समाधानादिति भावः । यदि चले अञ्चले
प्रान्तभागौ अपाङ्गावित्यर्थः ययोः तादृशे लोचने विद्येते तस्या इति
शेषः, तदा उत्पलानां नीलोत्पलानां कदम्बकैः सङ्घैः किम् ? न कि-
मपि प्रयोजनमित्यर्थः । तत् कार्यस्य लोचनाभ्यामेव समाधानादिति
भावः । यदि तरङ्गमेव भङ्गिः कौटिल्यं ययोः तादृश्यौ भ्रुवौ विद्येते
तस्या इति शेषः, तदा आत्मभवस्य कामस्य धन्वना धनुषा किम् ?
नैव प्रयोजनमस्तीत्यर्थः कामकार्मुककार्यस्य तद् भ्रुयुगलाभ्यामेव
समाधानादिति भावः । यदि सुसंयताः सुष्ठु वद्धाः कुन्तलाः केशाः
विद्यन्ते तस्या इति शेषः तदा अम्बुवहानां मेघानां डम्बरैः विस्तरैः
किम् नैव प्रयोजनमस्तीत्यर्थः अत्रापि पूर्ववदेव हेतुर्दृश्यः । यदि
दूर्यं तनुः शरीरं विद्यते तस्या इति शेषः तदा श्रिया लज्जया किम् ?
नैव प्रयोजनमस्तीत्यर्थः अत्रापि पूर्ववदेव हेतुर्बोध्यः ।

स्वभावादेकार्थैरिति शब्दश्लेषात् वाचनमिति च
धनेर्यवच्छेदः यथा,—

“खलस्य कण्टकस्यैव द्विविधैव प्रतिक्रिया ।

उपानहा वक्त्रभङ्गो दूरतो वा विवर्जनम् ॥ (६१)

“सा सहोक्तिः सहार्थस्य बलादेकं द्विवाचकम्” ।

यथा,—

“पुरोपनीतं नृप ! रामणीयकं

द्विजातिशेषेण यदेतदन्धसा ।

तदद्य ते वन्यफलाग्निः पर-

स्परैति कार्श्यं यशसा समं वपुः” ॥ (६२)भार०

अत्र वपुर्यशस्योभयमपि क्षीयते इति सहार्थबलाद्-
बोध्यते ।

(६१) खलस्येति । खलस्य दुर्जनस्य तथा कण्टकस्य द्विविधा एव
प्रतिक्रिया प्रतीकारः, उपानहा चर्लपादुकया वक्त्रभङ्गः सुखभङ्गः,
वा दूरतः विवर्जनं परिहारः संसर्गपरित्याग इत्यर्थः कर्तव्यमिति
शेषः । वक्त्रगन्धः स्वभावादेकार्थ एव, अत्र तु खलस्य वक्त्रं वदनं
कण्टकस्य वक्त्रम् अग्रभाग इति अनेकार्थयोः प्रतिपादनं बोध्यम् ।

(६२) पुरोपनीतमिति । युधिष्ठिरं द्वैतवनवासिनं प्रति द्रौपद्या
उक्तिः । हे नृप ! राजन् ! यदेतत् तव वपुः शरीरं पुरा पूर्वं द्वि-
जातिशेषेण ब्राह्मणमुक्तावशिष्टेन अन्धसा अन्धेन रामणीयकं रामणीय-
त्वम् उपनीतं गमितं, तत् वपुः अद्य वन्यफलाग्निः वनफलभोजिनः
ते तव यशसा समं सह परम् अत्यर्थं कार्श्यं क्षयमित्यर्थः परैति
प्राप्नोति ।

“हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गमुदाहृतम्” ।

विश्वनाथः ।

वाक्यस्य पदार्थस्य वा हेतुरूपेणोक्तौ काव्यलिङ्गम् ।

यथा,—

“रे हस्त ! दक्षिण मृतस्य शिशोर्दिजस्य

जीवातवे विसृज शूद्रमुनौ कृपाणम् ।

रामस्य गात्रमसि दुर्भरगर्भखिन्न-

सीताप्रवासनपटोः करुणा कुतस्ते ?” ॥ (६३) (उ०च०)

अत्र करुणाया अभावे ‘रामस्य गात्रमसि’ इति वाक्यं,
‘दुर्भरगर्भखिन्नसीताप्रवासनपटोः’ इति पदार्थश्च हेतुः ।

“विभावना विना हेतुं कार्योत्पत्तिर्यदुच्यते” ।

विश्वनाथः ।

यथा,—

“अपमेघोदयं वर्षमदृष्टकुसुमं फलम् ।

अतर्कितोपपन्नं वो दर्शनं प्रतिभाति मे” ॥ (६४) (कु०स०)

(६३) रे हस्तेति हे दक्षिणहस्त ! मृतस्य दिजस्य शिशोः
जीवातवे जावनाय शूद्रमुनौ कृपाणम् विसृज शूद्रमुनिं प्रहरेत्यर्थः ।
कथमहसीदृशनकार्यं करवाणोत्याशङ्क्य तव अकरुणायं नास्तीति
प्रबोध्याह रामस्येति दुर्बहेण वोदुमशक्येन गर्भेण खिन्ना क्लान्ता या
सीताः तस्याः प्रवासने निवासने पटोः दक्षस्य रामस्य गात्रम् अङ्ग-
मसि, ते तव करुणा कुतः ?

(६४) अपमेघोदयमिति । वः युष्माकं अतर्कितोपपन्नम् अभा-
वितोपस्थितं दर्शनं मे मम अपगतो मेवानामुदयो यत् तादृशं वर्षं
तथा न दृष्टं कुसुमं यस्य तथाभूतं फलं प्रतिभाति ।

अत्र मेघोदयकुसुमरूपकारणयोरभावेऽपि वर्षफलरूप-
कार्ययोरभिधानम् ।

‘सति हेतौ फलाभावे विशेषोक्तिस्’ त्रिधा च सा ।
उक्त्यनुक्तयोर्निमित्तस्याप्यचिन्त्यत्वे च कुतचित् ॥

उक्तनिमित्ता अनुक्तनिमित्ता अचिन्त्यनिमित्ता चेति
सा त्रिधा । क्रमेण यथा,—

“धनिनोऽपि निरुन्मदा युवानोऽपि न चञ्चलाः ।

प्रभवोऽप्यप्रमत्तास्ते महामहिमशालिनः ॥ (६५)

अत्र धनादिरूपहेतुसत्त्वेऽपि उन्मादादिरूपफला-
भावः महामहिमशालित्वञ्चात्र निमित्तमुक्तम् । अत्रैव
चतुर्थपादे “कियन्तः सन्ति भूतले” इति पाठे निमित्त-
मनुक्तं भवति,—

“स एकस्त्रीणि जयति जगन्ति कुसुमायुधः ।

हरतापि तनुं यस्य शम्भुना न बलं हृतम् ॥ (६६)

अत्र तनुहरणेऽपि बलाहरणे निमित्तमचिन्त्यम् ।

(६५) धनिन इति । ते जनाः धनिनोऽपि धनवान्तेऽपि निरु-
न्मादाः उन्मादरहिताः अप्रचण्डा इत्यर्थः युवानोऽपि तरुणा अपि
न चञ्चलाः चापत्यरहिता इत्यर्थः । प्रभवः निम्नहास्यहसमर्था
अपि अप्रमत्ताः अवहिता इत्यर्थः, यतः महामहिमशालिनः महा-
प्रभवन्त इत्यर्थः ।

(६६) स इति । स प्रसिद्धः कुसुमायुधः एकः एकाकीत्यर्थः
त्रीणि जगन्ति जयति, शम्भुना हरेण तनुम् अङ्गं हरतापि दहतापि
यस्य कुसुमायुधस्य बलं सामर्थ्यं न हृतम् ।

“विरोधः सोऽविरोधेऽपि विरुद्धत्वे न यद्वचः” ।

सम्मतः ।

वस्तुतोऽविरोधेऽपि विरुद्धयोरिव धर्मयोर्यदभिधानं स विरोधः, अयमेव विरोधाभास इत्यप्युच्यते । व्यधिकरण-योरिव धर्मयोः सामान्याधिकरण्येन निर्देशो विरोधः । धर्मश्चात्र जातिगुणक्रियाद्रव्यरूपः । उदाहरणम्,—

अजस्य गृह्णतो जन्म निरीहस्य हतद्विषः

स्वपतो जागरुकस्य याथार्थ्यं वेद कस्तव” ॥ (६७) (रघुवं०)

“जगद्योनिरयोनिस्त्वं जगदन्तो निरन्तकः ।

जगदादिरनादिस्त्वं जगदीशो निरीश्वरः” ॥ (६८) कु०स०

प्रथमे भगवतः प्रभावस्यातिशयित्वादापाततः प्रती-
यमानस्य विरोधस्य समाधानम्, द्वितीये नञ्जत्स्य रूप-
समासे विरोधः, बहुव्रीहिणा परिहारः ।

(६७) अजस्येति । देवानां विष्णुं प्रति स्तुतिः । हे देव ! को जनः अजस्य जनरहितस्य अथच जन्म गृह्णतः जायमानस्यैत्यर्थः निरीहस्य निःश्रेष्ठस्य अथच हता द्विषः शत्रवो येन तथोक्तस्य स्वपतः निद्राणस्य अथच जागरुकस्य तव याथार्थ्यं तत्त्वं वेद जानाति ? न कोऽपीत्यर्थः ।

(६८) जगदिति । ब्रह्माणं प्रति देवानां स्तुतिः हे देव ! त्वं जगतां योनिः प्रभवः, स्वयम् अयोनिः नास्ति योनिः प्रभवो यस्य तथाभूतः । जगताम् अन्तवति अन्तः नाशक इत्यर्थः नास्ति अन्तको यस्य स निरन्तकः स्वयं नाशरहित इत्यर्थः । त्वं जगताम् आदिः कूलकारणं स्वयं नास्ति आदिर्यस्य तथोक्तः । जगताम् ईशः स्वामी, स्वयं निरीश्वरः स्वाभिरहित इत्यर्थः ।

“गुणक्रिये वा यत् स्यातां विरुद्धे हेतुकार्ययोः ।

यद्धारब्धस्य वैफल्यमनर्थस्य च सम्भवः ।

विरूपयोः सङ्घट्टना या च तद्विषमं मतम्” ॥

विश्वनाथः ।

यत्र, कारणगुण एकः कार्यगुणस्तद्विपरीतः, क्रिया वा द्वयोर्विरुद्धा, यत्र न केवलमारब्धस्य वैफल्यमनर्थापत्तिश्च, यद्विषमयोर्भेदनञ्च भवेत् । तदेवं चतुर्धा विषमम्, क्रमेण यथा,—

“सद्यः करस्पर्शमवाप्य चित्रं

रणे रणे यस्य कृपाणलेखा ।

तमालनीला शरदिन्दुपाण्डु

यशस्त्रिलोक्याभरणं प्रसूते” ॥ (६६)

अत्र कारणरूपासिततायाः ‘कारणगुणाः कार्यगुण-
मारभन्ते’ इति स्थितेर्विरुद्धा शुक्तयशस उत्पत्तिः ।

* यत्र गुणादेरेकाग्रयवृत्तित्वेन परस्परविरोधः, तत्रैव विरोधानलङ्कारो भवितुमर्हति । यत्र पुनः कार्यकारणयो-
र्भिन्नाग्रयवृत्तित्वेन परस्परविरुद्धत्वं तत्रैव विषमस्यावसर इत्यनयोर्भेदः ।

(६६) सद्य इति । तमालनीला कृपाणलेखा रणेरणे प्रतिरूपं यस्य करस्पर्शमवाप्य प्राप्य करे स्थित्वेत्यर्थः शरदिन्दुपाण्डु शरचन्द्र-
शुक्लं त्रिलोक्याभरणं त्रिलोक्या अलङ्कारभूतं यशः सद्यः प्रसूते
ततोतीत्यर्थः चित्रम् आश्चर्यम् ।

“आनन्दमन्दमिमं कुवलयदललोचने ! ददासि त्वम् ।
विरहस्त्वयैव जनितस्तापयतितरां शरीरं मे” ॥ (७०)

अत्र त्वमानन्दं ददासि तज्जनितो विरहस्तु तापय-
तितरामिति हेतुकार्ययोर्विरुद्धा क्रिया ।

“अयं रत्नाकरोऽम्भोधिरित्यसेवि धनाशया ।

धनं दूरेऽस्तु वदनमपूरि चारवारिभिः ॥ (७१)

अत्र न केवलं काङ्क्षितधनलाभो माभूत् प्रत्युत
चारवारिभिर्वदनपूरणरूपानर्थपातः ।

“अनृताङ्गिरं न गदसौति जगति पटहैर्विघुष्यसे ।

निन्द्यमथ च हरिमर्चयतस्तव कर्मणैव विकसत्यसत्यता” ॥

(७२) माचः ।

अत्र सत्यप्रख्यापनासत्यसमाचरणयोर्विरूपयोः सङ्घटना ।

(७०) आनन्दमिति । हे कुवलयदललोचने ! नीलोत्पलदललोचि !
त्वम् इमम् अमन्दं महान्तमित्यर्थः आनन्दं ददासि, त्वयैव जनितः
उत्पादितः विरहस्तु मे मम शरीरं तापयतितराम् अतिशयेन तापय-
तीत्यर्थः ।

(७१) अयमिति । अयम् अम्भोधिः समुद्रः रत्नानामाकर इति
बुद्धेति शेषः धनाशया असेवि सेवितः मर्यात शेषः । धनं दूरेऽस्तु
तिष्ठतु, प्रत्युत चारवारिभिः लवणजलैः वदनम् अपूरि परिपूरितम् ।

(७२) अन्धतमिति । युधिष्ठिरं प्रति शिशुपालस्योक्तिः । हे
धर्मराज ! अन्धताम् असत्यां गिरं वाचं न गदसि न कथयसि
इति जगतां पटहैः वाद्यभेदैः विघुष्यसे कीर्त्यसे अथ च निन्द्यं
हरिं त्वण्णम् अर्चयतस्तव कर्मणैव निन्दनीयार्चनरूपेणेत्यर्थः असत्यता

अन्धतादिता विकसति प्रजाशब्दे ।

“कार्यकारणयोर्भिन्नदेशतायामसङ्गतिः” ।

विश्वनाथः ।

यथा,—

“जस्मिन् बणी तस्मिन् वेषणा भण्डं जणो तं प्रलिङ्गं ।

दन्तकलत्रं कपोले बह्वे वेषणा सबन्तीणम्” ॥ (७३)

अत्र एकस्याः कपोले दशनक्षतमपरस्या वेदनेति
कार्यकारणयोर्भिन्नाश्रयत्वम् ।

“परं परं प्रति यदा पूर्वपूर्वस्य हेतुता ।

तदा कारणमाला स्याद्” दर्पणे समुदीरिता ॥

यथा,—

“जितेन्द्रियत्वं विनयस्य कारणं

गुणप्रकर्षो विनयाद्वाप्यते ।

गुणप्रकर्षेण जनोऽनुरज्यते

जनानुरागप्रभवा हि सम्पदः” ॥ (७४)

(७३) जस्मिन् इति ।

यस्यैव वेषणस्तस्यैव वेदना भणति जनस्तद्वचिकम् ।

दन्तक्षतं कपोले बह्वे वेदना सपत्नीनाम् ॥

(७४) जितेन्द्रियत्वमिति । जितेन्द्रियत्वम् इन्द्रियदमनं विनयस्य
शिष्टाचारस्य कारणं हेतुः विनयात् गुणप्रकर्षः गुणानामनुत्कर्षः आवा-
प्यते लभ्यते । गुणप्रकर्षेण जनः लोकः अनुरज्यते सम्पदः जनानाम्

“उत्तरोत्तरमुत्कर्षो भवेत् सारः परावधिः

(७५) मन्मथः ।

“राज्ये सारं वसुधा वसुधायां पुरं पुरे सौधम् ।

सौधे तल्पं तल्पे वराङ्गनानङ्गसर्वस्वम्” ॥ (७६)

“पूर्वं पूर्वं प्रति विशेषणत्वेन परं परम् ।

स्याप्यतेऽपोह्यते वा चेत् स्यात्तदैकावली द्विधा” ॥

विश्वनाथः ।

पूर्वं पूर्वं पति यथोत्तरस्य वस्तुनी विशेषणत्वेन यत्
स्थापनं निषेधो वा सम्भवति सा द्विधा बुधैरेकावली
कथ्यते । क्रमेणीदाहरणम्,—

“सरो विकसिताम्भोजमम्भोजं भृङ्गसङ्गतम् ।

भृङ्गा यत्र ससङ्गीताः सङ्गीतं मधुवर्षि च” ॥ (७७)

चक्रुरागः प्रभवो यासां तथाविधा हि लोकानुरागेणैव सम्पदो
लभ्यन्ते इति भावः ।

(७५) उत्तरोत्तरमिति । उत्तरोत्तरम् उत्कर्षः परः तद्विधः
अवधिः यस्य तथाभूतः सारः तदाख्यलङ्कारो भवेत् ।

(७६) राज्ये इति । राज्ये राज्यमध्ये वसुधा लोकवासभूता
महोत्तर्यः सारं ओडोत्तर्यः । वसुधायां पुरं नगरं पुरे नगरे सौधं
हस्यं सौधे हस्यं तल्पं शय्या, तल्पे अङ्गनानङ्गसर्वस्वं वराङ्गना उत्तमा
कान्ता सारमित्यनेन सर्वत्र सम्बन्धः ।

(७७) सर इति । यत्र सरः सरोवरं विकसितानि अम्भोजानि
पद्मानि यस्मिन् तत् तथोक्तम् । अम्भोजं भृङ्गैः सङ्गतं युक्तं भृङ्गाः

अत्र सरसोऽन्धोजं तस्य शृङ्गम् इत्यादि क्रमेण विधिषणं विधीयते ।

“ न तज्जलं यन्न सुचारु पङ्कजं
न पङ्कजं तस्यदन्तीनषट्पदम् ।
न षट्पदोऽसौ न जुगुञ्ज यः कलं
न गुञ्जितं तन्न जहार यन्न नः ” ॥ (७८) भट्टिः ।

अत्र क्रमेण पूर्वपूर्वस्य निषेधः ।

“ दण्डापूपिकयाऽन्यार्थागमोऽर्थापत्तिरिष्यते ” ।

मूपिकेण दण्डो भक्षित इत्यनेन तल्लहचरितमपूप-
भक्षणमर्थादायातं भवतीति न्यायो दण्डापूपिका तथा-
ऽर्थानन्तरबोधनमर्थापत्तिः । यथा,—

“ विललाप स बाष्पगद्गद सहजामध्यपहाव धीरताम् ।

ससङ्गीताः गुञ्जनकारिणः । सङ्गीतं गुञ्जनञ्च सधुवर्धि च व्यतिमधुर-
मित्यर्थः ।

(७८) नेति । तत् जलं न आसीदिति शेषः यत् सुचारुणि
पङ्कजानि यस्मिन् तवोक्तम् । तत् पङ्कजं पङ्कजं न यत् नलोनाः
षट्पदा भ्रमरा यत् तादृशम् । असौ षट्पदो भ्रमरो न यः कलं
सधुरास्फुटं न जुगुञ्ज । तत् गुञ्जितं गुञ्जनं न, यत् सनः न जहार
श्रोतृणांसिति शेषः ।

(७९) इन्दुमतीविरहे अजस्य विलापं वर्धयति विललापेति ।
सः अजः सहजां स्वाभाविकीमपि धीरताम् अपहाव बाष्पगद्गदं

अभितप्तमयोऽपि मार्दवं भजते कैव कथा शरीरिषु” ॥ (७६)

रघुवंशम् ।

अतिकठिनं लौहमपि तापेन गलितं भवतीति तद-
पेक्षयाऽतिसुकुमारस्य मनुष्यहृदयस्य गलनं सुतरामाया-
तौल्यर्थापत्तिः ।

इति अलङ्कारविवेको नाम अष्टमशिखा ।

विललाप तथाहि अभितप्तम् अयोऽपि लौहमपि मार्दवं भजते
शरीरिषु कैव कथा ? न कापीत्यर्थः ।

इति अष्टमशिखा ।

इति वि, ए, उपाधिधारिणा श्रीजीवानन्दविद्यासागरभट्टाचार्य्येण
विरचिता काव्यदीपिकाव्याख्या समाप्ता ।

समाप्तश्चायं ग्रन्थः ।

KAVYADIPIKA

A

MANUAL OF SANSKRIT RHETORIC

INTENDED FOR, AND SUITED TO THE CAPACITY
OF, THE UNIVERSITY STUDENTS

WITH

A SHORT ACCOUNT, IN ENGLISH,
OF THE, RISE PROGRESS AND DECLINE OF SANSKRIT POETRY.

BY

KANTI CHANDRA VIDYARATNA.

EDITED WITH A FULL COMMENTARY

BY

PANDIT JIBANANDA VIDYASAGARA, B. A.

Superintendent Free Sanskrit College, Calcutta.

SECOND EDITION.



CALCUTTA :

PRINTED AT THE SARASWATI PRESS.

1886.

MAVADIPKA

MAVADIPKA

MAVADIPKA

MAVADIPKA

MAVADIPKA

MAVADIPKA

MAVADIPKA

MAVADIPKA

MAVADIPKA

MAVADIPKA

MAVADIPKA

MAVADIPKA

MAVADIPKA

MAVADIPKA

MAVADIPKA

MAVADIPKA

SANSKRIT POETRY.

"Poetry," says Hazlitt, "is the language of the imagination and the passions. It relates to whatever gives immediate pleasure or pain to the human mind". Its existence may, therefore, be co-eval with the primary institution of society, and even with the first creation of man. His earliest efforts would indeed, consist of unconnected and separate pieces without any systematic arrangement. First of all, the marvellous and gigantic power of the elements, and the splendid appearance of the heavenly bodies,—the visible symbols of the invisible and infinite, would strike his mind. The exploits and prowess of the 'favored few,' shining pre-eminently over their fellow-brethren, and dazzling their eyes by a charming brilliancy, would not fail to produce their effect. Hence would, naturally, spring two sorts of poetry, the first consisting of hymns addressed to, and singing the glory and power of, the visible deities, and through them extolling the mysterious potency of the Omnipotent: and the second comprehending short ballads and songs, celebrating the exploits and adventures of some favorite hero. It would be long, before systematic and continued pieces would be originated. System is the work of time, the production of mature judgment and consummate genius.

The Greeks had got hymns and ballads before the immortal father of their poesy touched his harp. His mighty and grasping genius could hardly remain content with a few poor scraps and scattered patches, which had satisfied his predecessors. He, at once, laid and established his claim over the vast empire of poetry, and gave it a poetical organization of his own..

The Romans, under the Republic, had no high aspirations in this department of literature. They felt not the delicate

charms of poetry,—the sweet phrensy of fancy. They were emphatically the children of Mars, and bore too manly a spirit to stoop before the feminine Muses. They boasted of their stern discipline and rigid martial spirit, as the characteristic of a sovereign people, and hated the softer arts as belonging to the subject races and the effeminate barbarians. Poetry, in consequence, languished in their age, and never grew with vigor and luxuriance. It was not till the Augustan era, that this elegant art flourished in Rome. It is a delicate plant that grows only in the congenial warmth of imagination; it cannot bear the blighting heat of stern utility and rigid discipline.

The Hindus have been pre-eminently celebrated for the originality and antiquity of their poetry. Their chief defect lies in the almost absolute want of any historical records properly so called. Whatever information can be gleaned of their past history is through the gorgeous and delusive coloring of poetry, or through their intercourse with other nations. It was not till the invasion of Alexander, that any knowledge of them could be had from foreign sources. We must then look to the country itself to gain any information of the times anterior to the Greek invasion, and, in the absence, in general, of external evidence, we must place our chief reliance on the internal testimony to be extracted from the living monuments of our ancestors,—the works they have left us as an inexhaustible and priceless patrimony,—the everlasting memorials of their divine genius. The vast field yet remains unexplored, or only partially explored, presenting, indeed, at the first sight, a desolate and dark appearance, but containing rich mines of gold in the interior; and although the indefatigable zeal and the indomitable perseverance of some master-minds in Europe have, to some extent, smoothed the way, the deep recesses of Hindu history lie yet in darkness. A Niebuhr of Indian history is yet to be born.

I do not presume at all to throw any light on Hindu history. It is beyond my capacity and acquirements. I will only attempt, in the following pages, to trace the changes, Sanskrit Poetry underwent, from its rude structure in the

Vedas to the highest refinements it attained to, and its decline in latter days.

The hymns of the Rig Veda, the only portion of the sacred Scriptures which can be classed with poetry, are principally addressed to Indra, 'the deity of the visible firmament,' 'the God of lightning and rain', and Agni 'the God of fire'. They are the oldest monuments of Hindu genius, and the earliest specimens of their poetry. The poetry, however, of the hymns, is not so simple as could be expected in so early a period of Society, "The poetry of the Rig Veda is remarkably deficient in that simplicity and natural pathos or sublimity which we usually look for in the songs of an early period of civilization." *

Next in succession comes the Ramayana of Valmiki, the earliest and the greatest epic in Sanskrit. Valmiki is said to be the Adikavi or primeval poet, and the inventor of *Sloka*, (Sanskrit verse) so called from the occasion of its birth, the *compassion* which filled the heart of the sage at the sight of a pair of cranes, one of which had been cruelly pierced by the arrow of a fowler. The simplicity of the style, the sweet and natural pathos pervading throughout and the *prolixity* (if I may so use the term) in the structure, are quite in keeping with its early date. †

The Mahabharata of Vedavyasa contains passages full of pathos and grandeur. The descriptions in the Sabha Parva, and the pathetic delineations in the Stri Parva are genuine touches of poetry. But although the style is, in general, characterized by simplicity, and we meet with occasional prolixity in the structure, we have not here invariably the smooth and flowing strain of the Ramayana, nor always its simple, natural, yet

* Ed. B. Cowell. Elphinstone's History of India.

† The Upanishads and the Puranas, including the Bhagavata, though they, now and then, glow with poetic sentiments, cannot properly be classed with poetry. I am not in a position to fix their dates in the progress of Sanskrit literature.

vivid style. The work of Valmiki is like a garden of nature, where she shines in simple and naked beauty, and sports wild at her pleasure ; while in the Mahabharata we have, now and then, a sprinkling of artificial tinge,—a touch of later refinements ; and the style bears evident proofs of an advanced stage in the language.

But it was in the hands of Kalidasa and Bhavabhuti, that Sanskrit poetry attained to its highest refinements, consistent with purity, and without the extravagant coloring imparted to it by later writers. But as we are acquainted with Bhavabhuti as a dramatic writer, and as I shall speak of Sanskrit drama separately, I postpone noticing his poetry, till I come to treat of the subject of the Hindu theatre.

Kalidasa is known to the world both as an epic and a dramatic poet. His style is pure, chaste and simple ; it has not, in the least, the laxity of the sacred poems, and though characterised by brevity, perspicuity runs through every vein of his poetry. His descriptions are always true to nature, his delineation of characters faithful to the minutest point ; his similes are every where appropriate, natural, beautiful. Nature yielded to him as a gentle bride, and ever remained faithful in his hands. The description of the ocean, of the forest scenery, and the hermitage of the sages therein, in the 13th Book of the Raghuvansa, when Rama returned home from Lanka ;—the parting scene of Lakshmana in the 14th, leaving Sita, the queen of Rama, alone and helpless in the wilderness, a prey to the howling beasts, and crying aloud like a frightened Kurari ;—the sudden and wonderful appearance, at midnight, of the goddess of Ayodhya, before Kusha sleeping in his apartment with doors all barred and closed, and her descriptions of deserted Ayodhya, graphically contrasted with her former glory and beauty ;—the most faithful delineation of the acts of the maidens of Bidarva, eager to feast their eyes with the sight of Aja in the 7th, and of those of Indraprastha, when Siva advanced through that capital in marriage procession in the 7th of Kumara ;—the discourse of Siva in the disguise of an ascetic, and Parvati prac-

tising hard austerities to gain his favor ;—and the vivid descriptions in the Meghadūta, are among the master-pieces in the Language.

Another rare quality characterizes his poetry. He could delineate, within the shortest compass imaginable, subjects which had occupied volumes in the hands of others, and yet would not leave out a single prominent fact in his descriptions. His epithets are always appropriate and full of meaning, and he seldom uses particles merely to fill up the verse.

The style of the Kiratarjuniya of Bharavi is classical and elaborate. It has not the simplicity of the Raghuvansa, nor its natural structure. The peculiar characteristic of Bharavi's writings is the great condensation of matter. Almost every line of his poetry may form the subject of an essay. The great work of Bharavi marks a new epoch in Sanskrit poetry. In his work, to a certain extent only, but to a greater degree, in the noble productions of the poets subsequent to him, we find a more ostentatious display of learning and ingenuity, than indication of genuine touches of true and simple poetry. They possessed great powers of description, but they knew not where and when to stop. Their descriptions and discourses are sometimes too long to attract the attention of the readers. Some of them carried their refinements too far, and to an extravagance quite beyond the region of true poetry.

The Bhattikavya is a work of great merit, both as an epic poem, and possessing great grammatical interest besides. The description of autumn, opening the second Book of his work is an excellent piece of poetry, and clearly proves that the author possessed great natural powers, and a high poetical genius. But unfortunately, his object was to teach grammar through poetry, and he was therefore often forced to sacrifice the latter at the stern and rigid altar of the former.

The Sisupalabadha of Magha is an exact prototype of the great work of Bharavi. His descriptions are often too long and tedious. That of Krishna's passage, from Dwaraka to Indraprastha, takes up the space of ten long books in his hands. But the copy surpasses the original in evincing greater

variety, learning and skill in the discourses and descriptions. The conference of Uddhava, Krishna and Balarama in the 2nd Book, and the quaint reproaches of Sisupala in the 15th, shew great artistic skill in the author, and are excellent pieces of their kind.

But it was in the hands of Sri Harsha in his *Naishadha Charita*, that refinements were carried to their utmost extravagance. His genius was too sharp to keep the tender graces of Poetry unhurt. His exaggerations knew no bounds—were checked by no rules. His horses were too ambitious to rest satisfied with the whole space of earth for their range; they must dry the ocean with the dust of their hoofs to have a wider scope for their course. The moon had the misfortune to part with a great portion of the bright matter of her orb for the formation of the face of *Damayanti*, by the great creator, and hence the dark spots in her disc. Such unnatural exaggerations abound in the great work of Sri Harsha. But his descriptions, arguments and discourses shew marks of a very sharp intellect, great genius, consummate skill, and most profound learning.

The *Rāghavapāṇḍaviya* of Kāvīraja is a work of little merit, contains less poetry, and is noted only for its verbal ingenuity, all its slokas bearing a double sense throughout the poem.

Thus Sanskrit poetry gradually degenerated into mere verbal quibbles and pompous bombastic trash.

The 'Sugared' pastoral songs of our 'honey-tongued' Jayadeva are the only exceptions, and they are the only pieces of the kind in Sanskrit poetry. They flow in soft and liquid strain. They are, indeed, as the poet boasts, sweeter than nectar, softer than the softest feminine graces, and more musical than the harmonious tune of the *Vina*.

I purposely omitted to mention the name of the *Nalodaya* ascribed to Kalidasa. I need hardly remark, that as a poetical work, it is of little merit, contains mere verbal ingenuity, and is not at all worthy the name of the greatest of Sanskrit bards. It is perhaps the work of a Kalidasa who lived long after his celebrated namesake.

Sanskrit poetry is very poor in prose productions. I shall barely mention the names of the only ones which can be classed with poetry. These are the Dasakumara Charita of Sri-Dandin, the Kadambari of Vana Bhatta and the Vashavadatta of Subandhu.

The dramatic literature of a country is important and interesting not only in a literary and philological point of view, but also as it throws light on the manners and customs of the people, on the state of religion and philosophy of the time, and in short, on the general history of the nation. "The objects," says Prof. Wilson "for which an ancient dialect may be studied are its philology and its literature, or the arts and sciences, the notion and manners, the history and belief, of the people by whom it was spoken. Particular branches of composition may be preferably cultivated for the due understanding of each of these subjects, but there is no one species which will be found to embrace so many purposes as the dramatic. The dialogue varies from simple to elaborate, from the conversation of ordinary life to the highest refinements of poetical taste. The illustrations are drawn from every known product of art, as well as every observable phenomenon of nature. The manners and feeling of the people are delineated living and breathing before us, and history and religion furnish the most important and interesting topics to the bard. Wherever therefore there exists a dramatic literature, it must be pre-eminently entitled to the attention of the philosopher as well as the philologist, of the man of general literary taste as well as the professional scholar."

The drama of the Hindus is original and their own ; it is borrowed from no other nation ancient or modern. It belongs to that class of dramatic literature which modern European scholars have termed *Romantic*, in opposition to what has been styled *classical*. Schlegel remarks "the only specimen of their plays hitherto known to us is the delightful Sakuntala, which, notwithstanding the foreign coloring of its native climate, bears in its general structure such a striking resemblance to our own romantic drama, that we might be inclined to sus-

pect, we owe this resemblance to the predilection for Shakspeare, entertained by the English translator Sir W. Jones, if his fidelity were not attested by other learned orientalists'.

The number of Sanskrit dramas, now extant, is indeed very small, when compared with the theatre of some other nations. But this is probably owing to the unfrequency of their representations, and to the neglect of this department of literature by the learned. "They seem to have been acted only on solemn and public occasions". *Numbers doubtless are lost, and only those of peculiar merit have come down to us. And "that the Hindu theatre is only partially represented by the surviving specimens, is proved by the fact, that one of the earliest of their plays, the *Vikramorvasi* of Kalidasa, refers to the sage Bharata as having analysed the dramatic art. The long lost *poetics* of the Hindu Aristotle in 34 chapters have been recently discovered and printed. Many plays must have been composed before a critic could have written so copiously on the theory."†

A peculiarity of the Hindu drama is the mixing of Prakrita dialects in the speeches of the inferior *dramatis personae*. This shews, that Sanskrit ceased to be the spoken language of the country before the rise of dramatic literature. I doubt, whether Sanskrit was ever the spoken dialect of the people of all India. India is not a country but a continent; and to expect a common dialect throughout this vast extent would be almost extravagant. As the descendants of the Aryas spread on all sides, their dialects, gradually and of necessity, changed, differing from the mother tongue and from each other. Hence sprang the various dialects in the different countries of India. They are all, however, the daughters of the same mother (Sanskrit), and bear a near family relation to each other. Sanskrit, however, continued to be the language of the learned and the higher classes, and like Latin in Europe during the middle ages, formed the medium for the productions of great minds in every department of learning.

Sanskrit dramatists are not shakled by the rigid and

* Wilson's Hindu Theatre.

† E. B. Cowell.

artificial rules of the Greeks and the French, nor are they allowed the extravagance of the Chinese play-writers. They have little regard for the unities of time and place. As for the unity of action I do not clearly understand what is meant by it. "In the highest and proper signification" says Schlegel, "action is an activity dependent on the will of man. Its unity will consist in the direction towards a single end, and to its completeness belongs all that lies between the first determination and the execution of the deed." This idea of action does not apply to Hindu drama. To quote again the words of Schlegel, "What comes to pass through the principal characters, and proceeds with them, has frequently no more connection with a voluntary determination than a ship's striking on a rock in a storm". If by 'unity of action' says Prof. Wilson, "be meant singleness of incident, they (Hindu dramatists) exhibit an equal disdain for such a restriction."

Another characteristic of our drama is, that we have no tragedies, that is, no dramatic composition ending tragically. Hindu dramas must, invariably and of necessity, have a happy end. The hero may encounter dreadful and serious calamities, he may suffer excruciating pangs of separation. he may wander from forest to forest, his head deranged his mind distracted in mad quest of his love; but he must be crowned with success in the end. The tragical end of the hero is shocking to Hindu idea,---shocking to their tender feelings.

Though thus we have no tragedy at all, which forms an important branch of dramatic composition of many nations. ancient and modern, there is not wanting a great variety in this department of Sanskrit literature. There are ten kinds of *Rûpakas* properly so termed, and eighteen sorts of *Uparûpakas*, the minor or inferior *Rûpakas*. We have also moral plays as the *Prabodha Chandrodaya*, which are, however included in one or other of the former divisions.

I have mentioned before the numerical paucity of the Hindu dramas. To each of the two greatest masters of the art Kalidasa and Bhavabhuti are ascribed only three pieces. We have indeed, no Antiphanes whose fertile genius could produce three

hundred and sixty five comedies, nor a giant Lope de Vega, the incredible number of whose dramatic compositions astounds our ears ; and the lightning flash of whose genius could extend to a thousand lines, while walking in his garden. I am quite in the dark about the merit of these wonderful productions but of this, I am sure, that Sanskrit drama loses little by the smallness of the number of works in this department of poetry. Its quality fully compensates for its quantity. Moreover, we have in Kalidasa combined the greatest epic and the greatest dramatic genius in the language, an excellence which no other poet, in any nation, as far I am aware, has ever been endowed with.

Many of the earliest Sanskrit dramas are certainly lost. The oldest specimen extant of the Hindu theatre is the *Mrichakatika* attributed to the royal poet Sudraka (सुद्रक) whom tradition places in the first century before Christ. That the work is of considerable antiquity, is proved by internal evidence, and by the structure of the style which is characterized by the simplicity of an early age, and has not the elaborate polish of later times.

Next we come to Kalidasa, the prince of Sanskrit bards to whose immortal genius are ascribed three dramatic pieces. 1st The *Abhijnana Sakuntala*, the greatest, sweetest and finest drama in the language. 2nd The *Vikramorvasi*, which excels in poetic and visionary charm, reminding us of the fairy scenes of Shakespeare in his *Midsummer Night's Dream*. 3d The *Malavikagnimitra*. That the first two are the genuine productions of the same hand, there is no reason to doubt, "The subject of each is taken from heroic, mythology and a royal demigod and a nymph of more than human mould are the hero and heroine of either ; there is the same vivacity of description and tenderness of feeling in both ; the like delicate beauty in the thoughts and extreme elegance in the style".* The *Malavikagnimitra* is a work of inferior merit. There is doubt whether it is the production of the favored child of *Saraswati*.

* Wilson's Hindu Theatre.

"The internal evidence" says Prof. Wilson "is adverse to the drama's being the work of the author of *Sakuntala* and *Vikramorvasi*. There is neither the same melody in the verse, nor fancy in the thoughts."

Bhavabhūti is second only to Kalidasa in this department of poetry. To him also are attributed three dramas.—The *Uttararamacharita*, the *Malati Madhava*, and the *Mahavira-charita*. The peculiar merit of his poetry is the sublimity of descriptions,—a quality rarely met with in the productions of other Sanskrit bards. His style is classical, and though elaborate, is not deformed by extravagant refinements. His descriptions of mountain scenery are highly picturesque and truly grand. His glowing delineation of the sites of the *Dandakaranya*,—here shining in tender green,=there looking dismal with their vast and dreary extent,=and resounding in places with the rushing of the waterfalls; and his descriptions of the transparent rills moving gently along, with their banks shaded with groves of canes, are indeed sublime and romantic. The pathetic strain,=describing the painful situation of *Ayodhya's* and *Sita's* lord, and depicting in breathing terms his tender feelings, roused by the sight of the familiar scenes, where he had lived for years with his beloved queen, whom his own cruel hands have banished from his kingdom, a victim to the howling forest, and whom he never hoped to see any more, can
"create a soul,

Under the ribs of death";

and move the senseless rocks.

The *Mudra Rakshasa* of *Visakhadatta* is a drama of a quite different description from the works of Kalidasa and Bhavabhūti. It is entirely of a political character, and interesting in the display of Machiavelian artifices throughout the work. The plot is well-conducted. The poet is much inferior to the two great masters of the art in fancy, imagery and brilliancy of thought. "The style though wanting in beauty is always vigorous and occasionally splendid". *

* Wilson's Hindu Theatre.

To Sri Harsha are ascribed the Ratnavali and the Nagamanda. Though the former is decidedly superior to the latter, there is little doubt, that they are the productions of the same hand. Whether they are, really, the works of the Royal Bard, or presented to his Highness by Dhavaka (who got plenty of money in return) as is alleged by the author of the Kavyaprakasa, we gain or lose little by the information. This, however, is certain that they were written in the reign of the above named Kashmerian prince, and thus we have a certain clue to their date.

The style in both, and especially in the Ratnavali, is very smooth, elegant, and exceedingly beautiful. The Prakrita of the Ratnavali, in particular, is eminently elegant, and appears to equal advantage in no other drama. The poetry of the Ratnavali is, indeed, inferior to that of the works of Kalidasa and Bhavabhuti, both in fancy and elevation of thoughts ; but I cannot go so far as Prof. Wilson in the assertion, "that there is in it no poetic spirit, no gleam of inspiration, scarce even enough to suggest a conceit in the ideas". The Ratnavali he proceeds, and not without reason, as it seems to me, "may be taken as one of the connecting links between the old and new school, as a not unpleasing production of that middle region through which Hindu poetry passed from elevation to extravagance."

The Venisanhara of Bhattanarayana is a drama of ordinary merit. The style though spirited is harsh. There is enough of passion, but very little of fancy. The peculiar excellence of the piece is the nice distinction of characters. Those of Duryodhana, Arjuna, Karna and Ashwathama, and above all, that of Bhimashena, are faithfully delineated and minutely distinguished. Yet even in this our author failed, and miserably failed, in depicting the hero himself. Yudhisthira cannot but be the hero of the play. But he acts no prominent part in it. we do not find him at all in the stage till the commencement of the last act, where even he acts the part of a credulous fool, quite incompatible with the character of the hero of a *Nataka*.

The dramatic works of subsequent writers abound more or

less in extravagant refinements. A few only deserve notice. The Chandakaushika of Aryakshemishwara may be noted for its pathetic strain, elegant style, and the dramatic interest in the hero. The Anargharaghava of Murari is celebrated for its elaborate style, has little dramatic merit, contains few poetic thoughts, and is full of hyperbolical extravagance and flat commonplace. The Mrigānkalekhā by Vishwanatha bears nothing original. Almost every incident and every thought in it, is borrowed from his predecessors. The Dhurtanartaka, the Hasyarnava and the Kautukasarvaswa are comic pieces or farces, being satirical attacks, the first upon the Sāiva ascetics, the second upon the licentious Brahmanas, assuming the character of religious mendicants, and the third upon princes who addict themselves to sensuality, and fail to patronize learning.

Even the present century is not altogether barren of dramatic compositions. But the productions cause only incredible labor in their birth, and are either born lifeless, or suffer a miserable life to the great uneasiness of their parents.

I shall conclude with a few remarks on the Hanumannataka or the *Maha* or great *Nataka* as it is emphatically called. It is evidently the work of several hands, the different fragments put together, arranged and formed into an entire whole (most probably) by Damodara Misra at the command of Bhoja. The poem contains passages of genuine poetry; but it has no consistence with the principles of drama. There is no mention of entrance or exit, and the poet himself is the speaker in several places.

K. C. B.

